कर्म-विवेचना

विनोबा

कर्म-विवेचना

लेखक

विनोबा

संकलन-सम्पादन

उषा

प्रकाशक

सर्व सेवा संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी-२२१००१

E-mail: sarvodayavns@yahoo.co.in

रात कहती है, चिन्तन करो।

दिल बोलता है, काम करो।

दिन पृथ्वी को खोलता है,

लेकिन रात अनन्त आकाश को।

इसलिए दिन में जनसम्पर्क, सृष्टिसम्पर्क हो।

रात में आत्मसम्पर्क, चित्तसम्पर्क हो।

प्रकाशकीय

आचार्य विनोबा द्वारा लिखित मृत्यु-रहस्य के साथ-साथ 'कर्म-विवेचना' पुस्तक का प्रकाशन सर्व सेवा संघ प्रकाशन के लिए अतीव हर्ष का क्षण है। 'मृत्यु-रहस्य' जहां जीवन एवं मृत्यु दोनों को साधने की दृष्टि व कला प्रदान करती है तो वहां 'कर्म विवेचना' श्रम के संबंध में योगमय नजरिया बनाती है।

विनोबा कहते हैं – "मेरी यह पक्की राय है कि भावी जगत के धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक विचारों की बुनियाद शरीर-परिश्रम व्रत ही हो सकती है।" अभी श्रम की दुनिया दो भागों में विभाजित है – शारीरिक श्रम एवं मानसिक श्रम। शारीरिक श्रम वाले मानसिक श्रम नहीं करते और मानसिक श्रम करने वाले शारीरिक श्रम नहीं करते। इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि दोनों ही असंतुलन के शिकार हो गये हैं। एक कुपोषण ग्रस्त तो दूसरे का शरीर अतिरिक्त भार ढोने को अभिशप्त है। इसलिए नये समाज की रचना के लिए शरीर-श्रम एक अनिवार्य तत्त्व है।

मनुष्य की मुक्ति के तीन मार्ग बताये गये हैं – भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। शंकराचार्य को ज्ञान के पूर्व कर्मयोग मान्य है। कर्म के बिना चित्त-शुद्धि नहीं, चित्त-शुद्धि के बिना ज्ञान नहीं – यह उनका निश्चित मत है। विनोबा की उक्ति है, "कर्मयोग ही जीवन है। अकर्मण्यता ही प्राण है। बिना कर्म के जीवन की इच्छा रखना, जीवन के साथ बेईमानी है। जब हम कर्म को टालते हैं तो जीवन भार रूप होता है, शाप रूप होता है।"

'कर्म विवेचना' पुस्तक के चुनिन्दा अंशों का सूत्र रूप में जिक्र इस उद्देश्य से किया गया है कि ताकि आप संपूर्ण विषयवस्तु की विविधता व गहराई से अवगत हो सकें।

इस पुस्तक के प्रकाश्न हेतु हम उषा बहन एवं गौतम बजाज के हृदय से आभारी हैं। उन्होंने न केवल हमें पुस्तक हेतु सामग्री उपलब्ध करायी बल्कि पुस्तक का मूल्य कम रखने हेतु आर्थिक सहयोग भी दिया। हम आशा करते हैं कि भविष्य में भी सहयोग मिलता रहेगा और अधिक से अधिक विनोबा साहित्य से आपका परिचय होता जायेगा।

अंत में मैं सर्व सेवा संघ के अध्यक्ष श्री महादेव विद्रोही, प्रकाशन समिति के सभी सदस्यों तथा अपने सभी सहकर्मियों के प्रति धन्यवाद व्यक्त करता हूं, जिनके बलबूते यह कार्य सम्पन्न हुआ है। आभार !

- अरविन्द अंजुम

प्रस्तावना

'मैं निवृत्तिमार्गी था, हूं, और रहूंगा, फिर भी मेरी कर्मरति कायम है।' निवृत्तिमार्ग का इतना निश्छल दावा करने वाले विनोबाजी की कर्मसाधना प्रचण्ड रही और अखण्ड चली। उनकी वह कर्मसाधना गंगा के प्रवाह की पवित्रता को लेकर ज्ञानसागर के गाम्भीर्य के प्रति अविरत बहती रही है। कर्म-ज्ञान-भक्ति के त्रिविध रसायनों से ओतप्रोत उनका जीवन प्रवाह कभी एकांगी नहीं बना। ज्ञानमार्ग की अलिप्तता और अनासक्ति के कारण कर्ममार्ग में वे कभी उलझे नहीं। और भक्तिमार्ग की आर्द्रता के कारण कर्म उनके लिए कभी बोझरूप नहीं बना। उनकी चिन्तनशील प्रकृति व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को पुष्ट करते हुए नये-नये प्रयोग करती रही, नये-नये मार्ग खोजती रही। उनके वे प्रयोग ईश्वरनिष्ठा और वेद से लेकर गांधी-विचार तक की बुनियाद पर खड़े थे। ज्ञान की उज्ज्वलता और भक्ति की आर्द्रता से परिपुष्ट था उनका कर्मयोग। उनके कर्मयोग की व्याख्या है 'फलत्यागपूर्वक अनासक्तभाव से, निरहंकारवृत्ति से और ईश्वरार्पणबुद्धि से जो सहजप्राप्त सत्कर्म किया जाता है, उसे कर्मयोग कह सकते हैं।' गीता के कर्मयोग के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाला यह सूत्र उनके जीवन और चिन्तन में पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित होता दिखायी देता है।

विनोबा कर्मयोगी कि कर्मसंन्यासी ? वे कहते हैं कि मेरे अंतरमन में अंतरशब्द संन्यास ही है। किन्तु वह शब्द उन्हें हिमालय की गुफा में नहीं ले गया। 'बाहर से प्रवृत्ति और अन्दर से निवृत्ति' की कला उन्होंने साध ली। प्रवृत्ति उनके मार्ग में कभी बाधक नहीं बनी; बल्कि उनके जीवन में प्रवृत्ति-निवृत्ति का विरल योग विकसित हुआ। 'बाहर से पूर्ण, अन्दर से शून्य' के जीवनमंत्र ने उनको जीवन में योग और संन्यास उभय की समन्वय साधना सिखा दी थी।

उनकी संन्यास की, निवृत्ति की कल्पना निषेधक नहीं, विधायक थी। विनोबाजी संन्यास को प्योर साइन्स, शुद्ध विज्ञान और योग को अप्लाइड साइन्स, विनियुक्त विज्ञान कहते थे।

फिर भी व्यवहार में संन्यास को समझने के लिए उन्होंने जगह- जगह पर जो विधान किये हैं, वे करीब-करीब योग के पर्यायवाची ही हैं। वे कहते हैं—"संन्यास यानी विश्वव्यापक प्रेम की खोज; संन्यास यानी दुनिया का एकरूप होना, न कि दुनिया से मुंह मोड़ना; संन्यास यानी अहंकार-आसक्ति से पूर्ण मुक्ति; संन्यास यानी छोड़ना नहीं, छूटना।

मुक्त होकर युक्त होने की कला के वे पुरस्कर्ता थे, जिससे व्यक्ति कहीं बंधन में फंसे नहीं, स्वैराचार में उलझे नहीं, कर्तव्य भावना से कभी मुंह न मोड़े, अंतःस्थैर्य से कभी च्युत न हो। जीवन कर्मप्रधान कि ज्ञानप्रधान, भक्तिप्रधान कि ध्यानप्रधान, ऐसे प्रश्न उनके जीवन को स्पर्श नहीं करते थे। कर्म-ज्ञान, भक्ति-ध्यान की एकरूपता जीवन में इतनी तो घुलमिल गयी थी कि 'जो कर्म वही ज्ञान, वही भक्ति, वही ध्यान' का समीकरण वे असंदिग्धता से प्रस्तुत करते थे, शब्दों द्वारा ही नहीं, जीवन द्वारा भी। कर्म द्वारा वे दुनिया से जुड़े रहते थे और ज्ञान-ध्यान-भक्ति द्वारा अंतर्यामी ईश्वर के साथ। कर्म उनके लिए साधन था, ईश्वरीय सत्य-प्रेम-करुणा के आविर्भाव का, आविष्कार का। चाहे जन में हों, चाहे वन में, वे सदा आत्मा में निमग्न रहते थे। उनके अंदर एक योगी था, जो लोक-हृदय के प्रांगण में निःस्पृह भाव से विचरण करते हुए अंतस्थ रहता था। और दूसरा था संन्यासी, जो अंतर्मन-गुफा में ध्यानस्थ बैठकर जनकल्याण की भावना से सदा आप्लावित रहता था। वे योगी भी थे, संन्यासी भी थे। भगवद्गीता के शब्दों में कहना हो तो वे **संन्यासयोगयुक्तात्मा**' थे। संन्यासी की आत्माभिमुखता और योगी की कर्माभिमुखता का सुन्दर समन्वय उनके व्यक्तित्व में निखर आता था।

सेवा और श्रम उनके जीवन के अभिन्न अंग बने रहे। व्यापक आत्मचिन्तन भी उनका अविरत चलता रहा। व्यापकता और गहराई, दोनों अंग उनके जीवन में ताने- बाने जैसे एकरूप थे। स्थूल-सूक्ष्म, व्यक्त-अव्यक्त, अंतरर्बाह्य सभी अंगों को उनकी चेतना स्पर्श करती रही। वैसे स्थूल से सूक्ष्म संशोधन में उन्हें अधिक रस था। इसलिए 50 साल की समाजसेवा के बाद उन्होंने सूक्ष्म कर्मयोग का मार्ग अपनाया। यानी सूक्ष्म में भी उन्होंने कर्मयोग का पल्ला छोड़ा

नहीं। सूक्ष्म कर्मयोग का वह विचार, चिन्तन की नयी दिशा खोलता है, जो अभिनव विज्ञानयुग के साथ तालमेल बैठाने की क्षमता रखता है। विज्ञान और आत्मज्ञान के समन्वय के वे पुरस्कर्ता रहे। वैसे उनके जीवन की बैठक शुरू से अध्यात्म की ही रही और अभिगम वैज्ञानिक। अतः उनका कर्मयोग कहीं क्रियाकाण्ड में फंसा नहीं और धार्मिक विधि-विधान में उलझा नहीं।

अलग-अलग संदर्भ में, अलग-अलग भूमिका के लोगों के सामने, अलग-अलग समय में, अलग-अलग स्थान पर प्रकट किये गये विनोबाजी के कर्म संबंधी विचारों का यह संकलन है। अक्षरशः सैकड़ों प्रवचनों से इसे संकलित-सम्पादित किया गया है। इसलिए सर्वत्र विषय की एकसूत्रता संभल न सकी हो, इसकी सम्भावना है। उस विषय संबंधी जो कोई भी विचार मिला, उसे एकत्र करके एक क्रम में बैठाने का यह प्रयत्न है।

कर्मयोग के परम्परागत विवरण और सैद्धान्तिक विरूपण से भिन्न ऐसे कई मुद्दे इस कर्म-मीमांसा में उभरते हैं। सैद्धान्तिक विचारणा से लेकर आत्मचिन्तन-प्रयोग-अनुभूति के आधार से पुष्ट, विनोबाजी के कर्मयोग संबंधी विधान इसमें प्रस्तुत हैं। भगवद्गीता के 'कर्म में अकर्म' और 'अकर्म में कर्म' के विचार से विनोबाजी को जीवनसूत्र मिला। गीता का 'विकर्म' शब्द विवादास्पद माना जाता है। विनोबाजी का 'विकर्म' शब्द का विवेचन अत्यन्त मौलिक कहा जायेगा। 'सूक्ष्म कर्मयोग' की उनकी कल्पना को भी अभिनव ही कहना होगा। 'विविध' और 'स्फुलिंग' विभाग में कर्मयोग संबंधी बिखरे विचारों का नावीन्य और वैविध्य बरबस ध्यान खींचता है। और अंत में 'अखंड कर्म से लेकर **तस्य कार्यं न विद्यते** (त्याचें कर्तव्य संपले) तक की उनकी कर्मयात्रा विस्मय में डुबो देती है कि क्या एक मनुष्य, वैज्ञानिक व क्रांतिकारी दृष्टिकोण से इतने सारे मोर्चों पर विचरण कर सकता है?

- उषा

विशेषांक के अंतरंग से

- कर्मयोग ही जीवन है, अकर्मण्यता ही मरण है। बिना कर्म के जीवन की इच्छा रखना, जीवन के साथ बेईमानी है! जब हम कर्म को टालते हैं, तो जीवन भाररूप होता है, शापरूप होता है।
- काम जड़ भी बन सकता है, चेतनामय भी बन सकता है। हम कर्मजड़ न बनें। हमारा कर्म थोड़ा हो, लेकिन शास्त्रीय हो, सुव्यवस्थित हो, ज्ञानमय हो, उपासनामय हो।
- ज्ञान, ध्यान, चिन्तन कर्मशक्ति के मूलस्रोत हैं। जिसके ध्यान में यह बात आयी, वह मूलस्रोत से अलग होना कभी भी स्वीकारेगा नहीं।
- जीवन में प्रवृत्ति चाहिए, लेकिन प्रवृत्ति, निवृत्ति के अंकुश में होनी चाहिए। उसके लिए त्याग, संयम, अध्ययन की आवश्यकता होती है।
- हमारी प्रत्येक कृति को ईश्वर के साथ जोड़ देना चाहिए। उसके साथ हम बातचीत कर सकें, उससे प्रश्न पूछ सकें, जवाब प्राप्त कर सकें और उसके अनुसार आचरण करने की हिम्मत भी हो—यह सब होने की जरूरत है।
- आत्मपरीक्षण से मन का, मौन से वाणी का और कर्मयोग से शरीर का दोष झड़े बिना आत्मा को आरोग्य नहीं मिलेगा।
- सत्कर्म की त्रिविध कसौटी—सत्य, साधुत्व, सौन्दर्य। वस्तुतः तीनों का समावेश सत्य में ही हो जाता है। सत्य से पृथक हुआ साधुत्व औपचारिक और सौन्दर्य वंचक होगा।
- सार्वजनिक सेवा का मूल्य काल की लम्बाई पर निर्भर नहीं है। शुद्धचित्त पुरुष के अल्पतम हलचल से भी जो कार्य होगा, वह औरों से शत जन्म में भी नहीं होगा।

ईसामसीह का सार्वजनिक जीवन दो-तीन ही साल का रहा, परन्तु उतने में ही उन्होंने प्रचण्ड कार्य किया।

- ज्ञान मंत्र है, कर्म तंत्र है। उपासना दोनों को जोड़ देती है।
- जिस मनुष्य में आत्मदर्शन की छटपटाहट है, उसका अस्तित्व ही उसकी सर्वोत्तम सेवा है।

अनुक्रमणिका

प्रकाशकीय

प्रस्तावना

विशेषांक के अंतरंग से

1. कर्म-सिद्धान्त
2. कर्म-प्रयोजन
3. कम-विकर्म-अकर्म
4. कर्मयोग-कर्मसंन्यास
5. आत्मा अकर्ता
6. स्वधर्म
7. शरीरश्रम
8. सेवा
9. मा फलेषु
10. वेदोपनिषद में कर्मविभावना
11. शंकराचार्य का कर्मयोग
12. सूक्ष्म कर्मयोग
13. क्रियापरमे वीर्यवत्तरम्

14. कर्म और भक्ति-ध्यानादि

15. प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति-निवृत्ति

16. चार पुरुषार्थ

17. आचार-विचार

18. विविध

19. स्फुलिंग

20. बाबा का कर्मयोग

ज्ञानोपासना और वाङ्मय सेवा

अंत में राम-हरि

•

1. कर्मसिद्धान्त-

** कर्म का कानून अटल है।*

** तीन प्रकार के कर्म होते हैं—संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण*

** आत्मज्ञान से संचित, क्रियमाण का क्षय*

** प्रारब्ध कर्म भुगतना ही पड़ता है*

** कर्म-विपाक-प्रक्रिया महान सिद्धान्त है।*

** व्यक्ति और समाज के मिले-जुले कर्म*

** क्या कर्म बंधनकारक है?*

इस दुनिया में कर्म और उसके फल का एक कानून है। जो जैसा कर्म करेगा, वैसा उसे भोगना पडेगा। आप अगर बबूल का बीज बोते हैं, तो बबूल उगेगा और आम की गुठली बोयेंगे, तो आम उगेगा। इसका नाम है कर्म का कानून। इस कानून को कोई व्यक्ति या समाज बदल नहीं सकता। जैसा कर्म करेंगे, वैसा फल पायेंगे। उसमें क्षमा भी नहीं और ज्यादा फल भी नहीं। उस कानून को ध्यान में रखकर चलना पड़ेगा। अग्नि में पांव डालेंगे तो पांव जलेगा ही। पांव न जले तो अग्नि से पांव जलता है, इस कानून का खंडन हो जायेगा। मतलब वह सृष्टि का न्याय नहीं होगा। इस तरह सृष्टि में एक पक्का, अटल शक्तिशाली कानून है। कर्म का कानून—लॉ ऑफ कर्म कहता है कि कर्म का फल अटल है।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं- संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित कर्म यानी पुराने अनेक जन्मों के इकट्ठे हुए कर्म। पूर्व कर्म असंख्य होते हैं। मनुष्य जब जन्म लेता है, तब उनमें से एक विशिष्ट अंश उपभोग के लिए लेकर आता है। उस अंश को ‘प्रारब्ध’ कर्म कहते हैं। पुराने

संचित कर्मों का जो ढेर है, उनमें कुछ कर्म तीव्र होते हैं, कुछ मंद होते हैं। तीव्र कर्म भोगने के लिए ही यह जन्म मिला है। इसी का नाम है प्रारब्ध। कर्म का मंद भाग, जो अभी भोगने को नहीं मिला है, उसका नाम है 'अनारब्ध'। वह अभी शुरू नहीं हुआ है, लेकिन ढेर पड़ा है। प्रारब्ध को आपने भोगने के लिए ले लिया है। बैंक में से इतना रुपया आपने उठा लिया है। उसी के आधार पर आपका जीवन चल रहा है। वह खतम होते ही देह गिर जाती है।

अब आप यहां इस जीवन में और भी कर्म करते हैं। प्रारब्ध कर्म तो हैं ही, उसके अलावा नये कर्म कर रहे हैं। यह नया कर्म 'क्रियमाण' कर्म है। प्रारब्ध कर्म जब समाप्त हो जायेगा तो मनुष्य मर जायेगा। उसके बाद पुराना सब संचित यानी 'अनारब्ध' कर्म और यह नया किया हुआ कर्म, फिर भोगना होगा। अब यह नया किया हुआ कर्म बहुत अधिक हो तो 'अनारब्ध' और 'क्रियमाण' दोनों मिलकर 'संचित' से बड़ा भी हो सकता है। जितना भोग लिया, उससे कम-बेसी कमाया तो वह बढ भी सकता है और घट भी सकता है। पुनर्जन्म के कुल कर्मों का घेरा छोटा भी हो सकता है और बड़ा भी। यह व्यक्ति के पुरुषार्थ पर निर्भर है।

यदि परमेश्वर की कृपा हो, साक्षात्कार हो, तो सारे संचित कर्म खत्म हो सकते हैं। लेकिन प्रारब्ध कर्म तो भुगतने ही पड़ते हैं। आत्मज्ञान हो जाये तो क्रियमाण भी बाधक नहीं होंगे। मतलब उनका लेप नहीं लगेगा, वे कर्म चिपकेंगे नहीं क्योंकि उनमें अहंकार नहीं होगा। ज्ञान और भक्ति से कर्म की वासना नष्ट होती है, जिससे कि कर्म फिर नहीं होते हैं। परंतु प्रारब्ध कर्मों को तो भोगना ही पड़ेगा। तीर निकल जाने के बाद पछताने से क्या होनेवाला है? पश्चात्ताप से चित्त की शुद्धि होती है और उससे आगे कर्म होना बंद हो जाता है, बशर्ते कि पश्चात्ताप के साथ संकल्प हो कि ऐसे दुष्कर्म फिर मेरे हाथ से नहीं होंगे। ज्ञानी और अज्ञानी में अंतर यही है कि अज्ञानी दुःखपूर्वक कर्म-फल भोगता है और ज्ञानी आनंदपूर्वक ! पश्चात्ताप से मानसिक शुद्धि

होती है और पाप के फल मिलते भी हैं तो भी चित्त पर उसका असर नहीं होता। इसी को पापनाश समझना चाहिए।

तो, 'संचित' और क्रियमाण', ये दोनों कर्म ज्ञान से नष्ट हो सकते हैं, पर प्रारब्ध कर्म भोगना शुरू हो गया तो उसे भोगना ही पड़ेगा। चाहे ज्ञान हो गया हो या न हुआ हो, उससे मुक्ति नहीं। इसीलिए तो बड़े-बड़े ज्ञानी भी बीमार होकर मरे हैं। कहा जाता है कि ज्ञानी को तो बीमार पड़ना ही नहीं चाहिए। ठीक है, उसके ज्ञान में तो बीमार पड़ने की शक्ति नहीं है। लेकिन वह जो पूर्वकर्म है, उसमें तो शक्ति पड़ी है। ज्ञान के कारण वह दुःख सहन कर लेगा।

प्रारब्ध कर्म पर ज्ञानशक्ति लागू नहीं होती। प्रारब्ध खतम होगा, उसी क्षण मनुष्य की मृत्यु होगी। या दूसरी भाषा में कहना हो तो पूर्ण ज्ञान मृत्यु के समय ही होगा, तत्पूर्ण हुआ ज्ञान अपूर्ण ही मानना चाहिए। फल तो भोगना ही होगा, परंतु यदि जीव आत्मा में स्थिर हो जाये, तो वह उसके शरीर को भोगना पड़ेगा, स्वयं वह उससे अलिप्त रहेगा। इसीलिए वह फल नहीं के बराबर हो जायेगा। भक्त और ज्ञानी कर्मफल से छूटना नहीं चाहते, परंतु फल का असर उन पर नहीं होता।

एक आम धारणा यह है कि पुण्यकार्य से पापक्षय होता है। वास्तव में पुण्य से पाप का क्षय कभी नहीं हो सकता। आप पाप पर पुण्य का प्रहार करते हैं, तो वह वैसी ही बात हो जाती है, जैसे राक्षस पर प्रहार किया, कुछ बूंद खून टपका और हर बूंद से एक नया राक्षस खड़ा हुआ। सार यह कि किसी कर्म से किसी कर्म का नाश नहीं होता। यह बात बीजगणित से समझायी जा सकती है। अंकगणित में जैसे 5-5=0 होते है, वैसे बीजगणित में नहीं होता। बीजगणित में अ-ब अ-ब होता है। पुण्य से पाप कटता नहीं। पुण्य का खाता अलग है और पाप का खाता अलग है। पुण्य का और पाप का, दोनों का फल अलग-अलग चखने को मिलेगा। कर्म का फल भोगे बगैर समाप्त नहीं होता। कर्मनाश तो आत्मज्ञान से ही संभव है।

पापकर्म मुक्तिकार्य का विरोधी है, यह तो सभी जानते हैं। लेकिन कितनी ही बार पुण्य भी मुक्ति के मार्ग में बहुत बड़ा रोड़ा बन जाता है। वह पाप से कम नहीं होता। कारण लोग पाप को तो पाप समझ सकते हैं। लेकिन जब पुण्य सौम्य, सुंदर, उज्ज्वल रूप धारण कर मानव के सामने खड़ा हो जाता है, तब भ्रम पैदा हो जाता है और वह मुक्ति के बदले उसे ही सब कुछ समझ बैठता है। इस प्रकार बुरी तरह ठगा जाता है।

पुण्यकर्म करने से चित्तशुद्धि होगी और चित्तशुद्धि होने पर पाप करने की बुद्धि नहीं रहेगी, यह संभव है। परंतु उससे पूर्वपापों का क्षय नहीं होता। वह तो होगा आत्मज्ञान से। आत्मज्ञान पाप को तो खतम करता ही है, पुण्य की भी आवश्यकता नहीं रहने देता। दोनों को खतम करता है।

कर्म-फल से हम तुरंत मुक्त हो सकते हैं, यदि अहंकार से मुक्त हो जायें। लेकिन मनुष्य अपने अहंकार से चिपका रहता है। अहंकार छूट जाता है, तो पुराने पाप खतम हो जाते हैं। लेकिन अहं कहा छूटता है? 'यह मैंने किया, वह मैंने किया'—इस तरह का अहंकार मनुष्य को रहता ही है। इसलिए उसको पाप-पुण्य का फल भोगना ही पड़ता है। अहंकार को तोड़ सके, तो सबसे मुक्त हो सकते हैं।

कर्म सिद्धांत आपको दंड देने के लिए नहीं है, यद्यपि सजा देना ईश्वर के प्रेम का ही लक्षण है। वह आपको सुधारना चाहता है। उसमें अपवाद हो सकते हैं। जैसे कानून से फांसी होती है, परंतु राष्ट्रपति फांसी को क्षमा भी कर सकते हैं। न्याय से बढ़कर भी एक चीज है, दया। हमारे दुराचरण का फल हमें मिलना ही चाहिए, पर ईश्वर की कृपा हो जाये, तो उससे छुटकारा भी हो सकता है, बशर्ते पश्चात्ताप हो। तब फिर कितना भी दुराचारी हो, पश्चात्ताप के कारण धर्मात्मा बन सकता है।

परंतु यह कार्य-कारण नियम ईश्वर को अबाधितरूप से लागू नहीं करना चाहिए। ईश्वर अपने कानून में स्वतंत्र है और उसके बाहर जाकर भी कार्य कर सकता है, ऐसा मानना मुझे विशेष उपयुक्त लगता है। हमारे मन में भी होता है कि अपने पापकर्मों को क्षमा मिलनी चाहिए, क्योंकि कर्मफल भोगते ही रहना पड़े तो उनका कभी अंत ही नहीं आयेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे दिल में कर्मफल के सिद्धांत के जैसी ही यह श्रद्धा भी है कि ईश्वर यदि चाहे, तो कर्म को क्षमा कर सकता है।

कर्म का परिणाम अवश्य भोगना पड़ता है, यह एक साधारण नहीं, महान सिद्धांत है। इसे कर्म-विपाक-प्रकिया कहते है। सिर्फ कर्म का नहीं, मन में जो अच्छे-बुरे विचार आते हैं, उसका भी फल भुगतना पड़ता है। जो शब्द इस समय उच्चारण किये जा रहे हैं, वे जगत को व्याप्त कर रहे हैं, चाहे उनको कोई सुन सके या नहीं। जैसे अच्छे-बुरे शब्द फैलते हैं, उसी प्रकार अच्छे-बुरे मानसिक विचारों का भी प्रसार होता है और उसका फल भोगना पड़ता है।

सृष्टि का स्वरूप अनादि-अनंत है। सृष्टि में कहीं भी यह नहीं कह सकते कि यहां उसका अंत और यहां आदि है। जीव का इस सृष्टि में कब प्रवेश हुआ, मालूम नहीं। वह कब तक सृष्टि में रहेगा, यह भी मालूम नहीं। यदि हम यह मानें कि हम पहले नहीं थे और मरने के बाद भी नहीं रहेंगे, तो कई समस्याएं खड़ी होंगी। लेकिन सब समस्याओं का उत्तर मिलेगा, यदि हम यह जान जायें कि हमारा स्वरूप अनादि-अनंत है। यदि हम यह मानें कि हमारा स्वरूप अनादि-अनंत नहीं, तो फिर कर्म-विपाक भी कुंठित हो जायेगा। हमने जन्म पाया तो बचपन से ही हमारे किये हुए कर्मों का क्षय होने लगा। जीवन में हमें कुछ दुःख हुआ तो कुछ सुख हुआ। लेकिन यदि हम पहले नहीं थे तो सुख-दुःख के लिए जिम्मेवार भी नहीं होंगे। तब सुख या दुःख की जिम्मेवारी हम पर नहीं आयेगी। यदि हमने आज बुरा काम किया तो दुःख हो, यह ठीक है। लेकिन 'हमने पूर्वजन्म में कुछ किया होगा, इसलिए अब दुःख भुगत रहे हैं' ऐसा हम मानते हैं

तो यह बात 'हम पहले नहीं थे और मरने के बाद भी नहीं रहेंगे' इससे मेल नहीं खाती। सारांश, पहले और आगे की बातें यदि नहीं मानते तो कर्म और कर्मफल का नियम टूट जाता है।

भारत में कर्म-विपाक का बहुत बड़ा विकसित शास्त्र है। यहां उसका गहन चिंतन हुआ है। पूर्वमीमांसा ने स्वर्ग, नरक और पुनर्जन्म की कल्पना की है। इस कर्म-विपाक की नींव ही पुनर्जन्म पर खड़ी है। इस कर्म-विपाक सिद्धांत से हिंदूधर्म को बहुत लाभ हुआ है। कर्म का परिणाम टल नहीं सकता—कर्म-विपाक के इस सिद्धांत को हिंदूधर्म ने माना ही है। कहते हैं कि इस्लाम पुनर्जन्म को नहीं मानता। लेकिन उसमें भी कहा है—मिसकाल जर्रतीन शरीयर। जर्रा यानी कणभर। जर्राभर पुण्य का आचरण किया तो उसका फल तुम्हें मिलेगा और जर्राभर पाप का आचरण किया तो उसका भी फल मिलेगा। इसी का नाम तो है, कर्म-विपाक-प्रक्रिया।

कर्म सिद्धांत को आमतौर पर जिस तरह माना गया है, उसमें काफी गलतफहमियां हैं। मेरे कर्म का फल मुझे अवश्य मिलेगा, यहां नहीं तो वहां, दूसरे जन्म में मिलेगा, यह कर्म सिद्धांत अटल है। परंतु मेरे कर्म का फल मुझे ही मिलेगा, आपको नहीं और आपके कर्म का फल आपको ही मिलेगा, मुझे नहीं, ऐसा नहीं है। कुछ कर्म मिले-जुले होते हैं, तो कुछ व्यक्तिगत कभी ऐसा भी होता है कि एक के गलत काम का फल दूसरे को भोगना पड़ा। परिवार में ऐसा होता है। किसी एक की गलती का फल सबको भुगतना पड़ता है।

परिवार में एक लड़का चोर निकला, तो यह मानना ठीक नहीं कि उसके अपने पिछले जन्म के कारण वह चोर निकला। मेरा लड़का चोर न बने, इसकी जिम्मेवारी बाप के नाते मुझ पर भी है। वैसे ही एक व्यक्ति के कर्म का फल सारे समाज को भोगना पड़ता है। किसी के बीड़ी फूंकने से मेरा घर जलता है, तो मैं कहूं कि मैंने पिछल जन्म में कुछ पाप किया होगा इसलिए ऐसा हुआ, तो वह बहुत दूर का अन्वय लगाना होगा, जो उचित नहीं कहा जा सकता। सामूहिक जिम्मेवारी भी उसके अंतर्गत है। पूरे गांव का—गांव के समूह का भी एक सम्मिलित कर्म होता

है। इस तरह समाज की जिम्मेवारी व्यक्ति पर और व्यक्ति की जिम्मेवारी समाज पर है। इसको हम समझते नहीं, लेकिन समझना चाहिए। समाज और व्यक्ति एक-दूसरे में मिले हुए हैं। कर्म के कानून में दोनों अलग नहीं हैं।

साधारणतया माना गया है कि कर्म बंधनकारक है। गीता में भी ऐसी भाषा आती है। कम-से-कम हिंदुस्तान के तत्त्वज्ञान में करीब-करीब यह सर्वमान्य वस्तु है। 'करीब-करीब' इसलिए कि एक पक्ष यह भी कहता है कि कर्म से ही मोक्ष, जिसे 'स्वर्ग' या स्वर्गतुल्य अवस्था कह सकते हैं, मिलता है। कर्मभिः निःश्रेयसम्—कर्म से ही मुक्ति या अंतिम ध्येय की प्राप्ति होगी, ऐसा माननेवाला एक पक्ष हिंदुस्तान में है, उसे 'पूर्वमीमांसा' कहते हैं। उसके अलावा हिंदुस्तान में दूसरा कोई पक्ष नहीं, जो सीधे कर्म से मुक्ति दिलाता हो। सांख्य, योग, वेदांत, न्याय-वैशेषिक या जैन-बौद्ध भी मानते हैं कि कर्म बंधनकारक है। हां, एक चार्वाक ऐसा माना जायेगा, जो कर्म को महत्त्व देता है, परंतु मुक्ति को नहीं मानता। वह इहलोकपरायण माना जायेगा। उसकी दृष्टि दूसरी ही है। जो इहलोक के बाद जीवन ही नहीं मानता, उसकी गिनती तत्त्वज्ञान में नहीं होती। परंतु कर्मभिः निःश्रेयसम् कहनेवाले इहलोक-परायण नहीं। वे कहते हैं, आत्मा को ऊंची अवस्था प्राप्त हो सकती है, वह प्राप्त करनी है और वह कर्म से ही प्राप्त हो सकती है, कर्म का सीधा परिणाम है, ऊंची अवस्था प्राप्त होना, जिसे स्वर्ग, मोक्ष, परमकल्याण, निःश्रेयस् आदि कहा जायेगा। तो, मीमांसकों और चार्वाक को छोड़कर भारत में ऐसा कोई तत्त्वज्ञान मौजूद नहीं, जो यह मानता हो कि कर्म से सीधा निःश्रेयस प्राप्त होता है। गीता में भी, जो आरंभ से अंत तक कर्मयोग से भरी है, वैसा नहीं कहा है।

कर्म में बंधन है ही और कर्म करते समय कुछ कर्मों का त्याग करना ही पड़ेगा, आदि बातें भगवान ने गीता में कही है। परंतु मध्ययुग में इन विचारों की मर्यादा ध्यान में नही ली गयी और कर्म के बारे में गलत व्याख्यायें की गयीं। मध्ययुग में ऐसी एक विचारसरणी बन गयी थी

कि कर्म बंधक है, इतना ही नहीं वह मारक भी है। जितना हो सके उतना कर्म का त्याग करें और केवल भिक्षा आदि आवश्यक कर्म ही करें। सुबह-शाम पूजापाठ, भजन-पूजन, जप-तप कर लें तो काफी है, बाकी दिनभर व्यवहार में कुछ कम-बेसी झूठ-सच कर लिया तो चल जायेगा। ये ख्यालात लोगों में रूढ़ हो गये हैं। ये जो गलत ख्याल भक्ति और अध्यात्म के बारे में पैठ गये हैं, उनको दुरुस्त करना होगा। हमें हमारा संपूर्ण जीवन भक्तिमय, उपासनामय करना होगा।

बाह्यरूप से कर्म करने का या छोड़ने का इतना महत्त्व नही। महत्त्व है राग-द्वेष से मुक्त होने का, द्वंद्व से अलग होने का। अंदर से राग-द्वेष अगर नहीं छूटते, तो कितना भी कर्म करें या न करें, मनुष्य बंधन से छूटता नहीं।

देह रहते कर्म से छूटना यानी मुक्ति नहीं। बल्कि जिस कारण से यह देह पैदा हुई है, उस वासना का छेद करना मुक्ति है। और ऐसी मुक्ति कर्म से ही मिलती है। जब तक देह है, तब तक बाह्य कर्म करते-करते मन से कर्ममुक्त होने का यत्न यदि हम करते रहेंगे, तो अंत में देह उड़ जायेगी और फिर से देह धारण करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

हर प्राणी दुनिया में कर्म करता है। वह कर्म करता है, इतना ही नहीं खुद भी कर्म बनता है। कुल्हाड़ी लेकर पेड़ काटने लगे, हाथ में फफोला हो आया। पेड़ हमने काटा, हम कर्ता बने, लेकिन फफोला आया यानी हम कर्म बने।

ज्ञानी मनुष्य की क्या हालत है? वह भी प्रकृति में स्थित है, जैसे कि दूसरे लोग। सामान्य मनुष्य के नाते उसका खाना-पीना, घूमना, सोना चलता रहता है। फिर भी वह अपनी ओर से न कोई कर्म करता है, न किसी कर्म का परिणाम उस पर होता है। वह कर्म के बंधन में नहीं पड़ता, क्योंकि वह निवृत्तवृष्णः है। नचानेवाली तृष्णा से मुक्त है। वह न ‘कर्ता’ है, और न किसी का ‘कर्म’ बनता है।

प्रश्न पूछा जाता है कि कर्मबंधन यानी क्या? कर्मबंधन है, अपने चित्त पर कर्म का आवेग। मनुष्य कर्म करते-करते उसके प्रभाव में आ जाता है। और फिर कर्म उसको खींचकर ले जाता है। जैसे मनुष्य घोड़े पर चढ़ता है, तब लगाम अपने हाथ में रही तो ठीक, अन्यथा घोड़ा ही उसको चाहे जहां खींच ले जाता है। वैसे ही कर्म के कर्ता हम होने पर भी कर्म का प्रभाव हम पर पड़ता है। और वह हमें खींच ले जाता है। सत्-कर्म तो अच्छा ही है। सत्-कर्मों का प्रभाव साधारणतया तारक होता है। दुष्कर्मों का प्रभाव मारक होता है, इसलिए वे त्याज्य हैं। उनके फल तो खराब ही आते हैं, इसलिए उन्हें तो छोड़ना ही चाहिए। परंतु सत्-कर्मों की लगाम भी अपने ही हाथ में होनी चाहिए। अन्यथा उसमें भी अहंकार, आसक्ति आदि पैदा हो सकते हैं। जैसे देशसेवा सत्-कर्म है, उसमें सब शुभेच्छा से ही आते हैं, पर उसमें भी मतभेद, विरोध, दुश्मनी की हद तक पहुंच जाते हैं। यह कर्म का हम पर प्रभाव पड़ा।

क्या कर्मफल बीच ही में कटना संभव है ? उत्कट भक्ति और आत्मज्ञान के द्वारा कर्मतंतु से जीवन का संबंध-विच्छेद हो सकता है।

•

2. कर्मयोगप्रयोजन-

** शरीरयात्रार्थ कर्म*

** यज्ञार्थ अर्थात् सृष्टि-समाज के संगोपनार्थ कर्म*

** लोकसंग्रहार्थ कर्म*

** चित्तशुद्धि के लिए कर्म*

शरीरयात्रार्थ कर्म : शरीर का अस्तित्व कर्म की आवश्यकता की निशानी है। शरीर का भला निरंतर कर्म करने में है। निरंतर श्वासोच्छ्वास चलते रहना शरीर के लिए जरूरी है, उसी प्रकार निरंतर कर्म होता रहे। गीता कहती है, तुम्हारी शरीरयात्रा कर्म के बिना नहीं होगी— **शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेद् अकर्मणः** (गी. 3.8.) तीर्थयात्रा पवित्र मानी जाती है, वैसे शरीरयात्रा भी पवित्र है। बिना शरीरश्रम किये वह सधेगी नहीं। शरीरयात्रा यानी औचित्यपूर्वक देहनिर्वाह, न्याययुक्त आजीविका, धर्म से पेट भरना, 'शरीरयात्रा' चलाना पारमार्थिक कार्य, पारमार्थिक साधना है। शरीर का निर्वाह उत्पादक परिश्रम से होना चाहिए। शरीरश्रम के बिना अन्न खाते हैं, तो हम एक खतरा पैदा करते हैं। दुनिया की आज की बहुत-सी विषमताएं, बहुत से दुःख और बहुत से पाप शरीरश्रम टालने की नीयत से पैदा हुए हैं। अगर समाज में कर्मनिष्ठा नहीं रही तो समाज या तो विलासी बनेगा या गुलाम। दोनों बातें समाज के लिए ठीक नहीं हैं।

यज्ञार्थ कर्म : गीता यज्ञार्थ कर्म करने को कहती है—**यज्ञार्थत् कर्मणेऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः** (गी.3.9)। लोग कर्म यज्ञ के लिए न करते हुए स्वार्थ के लिए करते हैं, इसलिए बंधन में फंसते हैं। यज्ञ यानी (अ) सृष्टिदेवता की निष्ठापूर्वक सेवा (अ) उसके लिए उत्पादक शरीरश्रम। सृष्टि की निष्ठापूर्वक सेवा को गीता ने यज्ञ कहा है। यज्ञरूप कामधेनु यानी निर्माणकारी शरीर-परिश्रम की निष्ठा। शरीरश्रम द्वारा हम सृष्टि और समाज का संगोपन करें। सार्वदेशिक और सार्वकालिक निष्पाप जीवन की यह योजना यज्ञचक्र द्वारा गीता ने समाज के

सामने प्रस्तुत की है। अगर उत्पादक परिश्रम टाला तो जीवन पापमय बनेगा, यह बात सब देश और सब काल को लागू है। कुछ बातें अमुक देश में और अमुक काल में उपयोगी होती है। परंतु श्रमनिष्ठा की बात सब देश-काल को लागू होती है।

तो, यज्ञ का अर्थ है— शरीर-श्रम-निष्ठा और उसका उत्तम माध्यम है कृषि-कार्य। गीता का यह अनुशासन है कि अन्नोत्पत्ति के काम में हरएक को सहयोग देना चाहिए, तदर्थ शारीरिक परिश्रम करना चाहिए। हम सृष्टि देवता के पास जाते हैं और उससे अन्न मांगते हैं, तो हमें उसकी सेवा भी करनी चाहिए। हम सेवा नहीं करेंगे तो भी वह अन्न देगा ही। परंतु उससे उसकी शक्ति क्षीण होती जायेगी और हमारा भी क्षय होगा। इसलिए गीता कहती है, देवों की सेवा करो और देवों से सेवा लो। देव शब्द मुख्यतः सृष्टि का द्योतक है - सूर्यदेव, वायुदेव आदि। सृष्टि की समस्त शक्तियां हमारे लिए देवता हैं। सूर्य-चंद्र, नदी, वृक्ष-वनस्पति आदि के रूप में सृष्टिदेवता हमें निरंतर देता ही रहता है। इसलिए हमें भी उनका पोषण करना चाहिए। परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ (गी. 3. 11) - परस्पर का रक्षण कर सब कल्याण को प्राप्त हों। देव शब्द मुख्यतः सृष्टि का द्योतक है, गौण अर्थ में वह प्राणी और मानवसमाज को भी लागू होता है। मनुष्य से अपेक्षा है कि वह सृष्टि, अन्य प्राणी तथा मानव तीनों के साथ सहकार करे।

हमने परिश्रम किया, इसलिए थोड़ा खाने का तो अधिकार है। परंतु भूमिदेवता को भी कुछ वापस मिलना चाहिए। कुछ भी वापस न देते हुए सब-का-सब खा लिया, तो वह चोरी हुई। सृष्टि और समाज की सुयोग्य सेवा न करते हुए भोग सेवन करनेवाले को गीता चोर कहती है – स्तेन एव सः।

देवताओं का भाग देवताओं को दे दिया, इतने से गीता संतुष्ट नहीं होती। वह कहती है कि देवताओं को देने के बाद जो हिस्सा बचा, उस पर समाज का अधिकार है। समाज के हम पर कितने उपकार हैं! समाज नहीं तो हम हैं ही क्या? इसलिए देवता को देने के बाद बचा हुआ

हिस्सा समाज को देना और समाज जो हमें दे उससे संतुष्ट रहना। क्षेत्र हो, गाय हो, वृक्ष हो—सब हमको कुछ-न-कुछ देते ही हैं। उन सबको उनका-उनका हिस्सा देकर, शेष बचे हुए अंश का सेवन करने को गीता यज्ञावशिष्ट भोजन कहती है। यज्ञ का बचा हुआ भोजन ग्राह्म है और उसे ग्रहण करनेवाला सब प्रकार के दोषों से मुक्त होता है। यज्ञावशिष्ट यानी दूसरों को देकर बचा हुआ खाने से आहार-सेवन के दोषों का परिहार होता है और जो अपना ही सोचता है वह पाप का भक्षण करता है—**भुंजते ते त्वघं पापाः।**

1. शरीरश्रम 2. अन्ननिर्माण 3. सृष्टि की देन को वापस लौटाना 4. अन्योन्य (पारस्परिक) सहकार्य 5. समाजार्पण भावना 6. शेष-प्रसाद सेवन—इस प्रकार यज्ञार्थ कर्म की षड्विध कल्पना गीता में प्रस्तुत है। तदनुसार हम सब बरतेंगे तो पूरे समाज का जीवन शुद्ध होगा।

लोकसंग्रह : जिन्हें आत्मदर्शन हुआ है, ऐसे ज्ञानी से गीता लोकसंग्रहार्थ कर्म की अपेक्षा करती है। ज्ञानी ने पर्याप्त मात्रा में चित्तशुद्धि कर ली है और वह ध्यानचिंतन के मार्ग से आगे बढ़ सकता है। उससे बाह्म कर्मयोग की अपेक्षा न हो तो भी गीता का कहना है कि लोकसंग्रह के लिए उसे भी कर्मयोग का आचरण करना चाहिए। वैसे लोकसंग्रह का ऊपरी अर्थ है—समाज का संगठन। वास्तव में ज्ञानी ऐसे काम में नहीं पड़ते। जिन लोगों में अहंकार की मात्रा अधिक होती है, वे ऐसे कार्य में पड़ते हैं।

लोकसंग्रह अर्थात् लोगों को एकत्र रखना, फूटने न देना, सत्कार्य पर बनाये रखना। समाज एकरस रहे, प्रेम से, स्नेह से, धर्मबुद्धि से लोग परस्पर गुंथे रहें, इसी को लोकसंग्रह कहा है। शंकराचार्य ने लोकसंग्रह का निवर्तक स्वरूप बताया है— लोग उन्मार्गी न बनें, अनुचित मार्ग पर न जायें।

जब अपने में और लोगों में मनुष्य को कोई भेद नहीं दीखता, तब उस पर लोकसंग्रह की जिम्मेदारी आती है। शुरू में उसका क्षेत्र अपने तक सीमित रहता है। जब तक अपनी खुद की शुद्धि पर्याप्त मात्रा में नहीं होती, मनुष्य दूसरे की शुद्धि कैसे करेगा? चित्तशुद्धि होने के बाद क्षेत्र व्यापक हो जाता है।

लोकसंग्रह का काम पुस्तक लिखकर या भाषण देकर नहीं किया जा सकता। वह तो आचरण से होगा। निरहंकारिता के साथ जितनी सेवा होगी, उतना लोकसंग्रह होगा। किसी भी कर्म को अहंकारशून्यता प्राप्त होने पर अनंतता प्राप्त होती है। अतः गीता कर्म की विशालता पर जोर न देकर उसकी निरहंकारिता पर जोर देती है। कर्म का मूल्य कर्म के आकार पर नहीं, प्रकार पर निर्भर है। ईसा मसीह की मिनिस्ट्री (सेवा) केवल तीन साल की रही। इस छोटे-से समय में वे जो लोकसंग्रह का काम करके गये, वह अति महान है। सिकंदर अनेक साल कठिन परश्रिम कर विश्वविजयी बना, लेकिन वह कुछ भी लोकसंग्रह नहीं कर पाया।

लोकसंग्रह की समस्यायें है कि जिनको लोकसंग्रह करने का उत्साह होता है, उनमें योग्यता नहीं होती और जिनमें योग्यता होती है, उन्हें शौक नहीं होता। आत्मनिग्रह की ओर ध्यान न देते हुए, लोकसंग्रह का लालच रखने का आज के समाज को रोग ही लग गया है। स्वयं तैरना न जानते हुए भी दूसरों का तारण करने की आकांक्षा हम रखते हैं। वैसे वास्तव में आत्मनिग्रह और लोकसंग्रह दो भिन्न कार्य हैं, यह कल्पना ही गलत है। 'मुझे दीया जलाने का और अंधेरे का नाश करने का, ऐसे दो काम करने हैं', इस कथन में क्या सार है? दीप जलाने पर अंधकार अपने-आप नष्ट हो जाता है। वैसे ही आत्मनिग्रह के अभ्यास में सफलता प्राप्त करने पर मनुष्य को लोकसंग्रह की चिंता नहीं करनी पड़ती। आत्मनिग्रह ही देख लेता है कि किस तरह लोकसंग्रह किया जाये।... आत्मशुद्धार्थ किये गये कर्मों से लोकसंग्रह सधता हो, तो भी हम यह नहीं कह सकते कि लोकसंग्रहार्थ किये गये कर्मों से आत्मशुद्धि होगी ही। उल्टे अहंकार बढ़ने की संभावना अवश्य रहेगी। इसलिए लोकसंग्रह संतों के कार्यों का परिणाम

होने पर भी वह उनका 'हेतु' नहीं होता। लेकिन 'हेतु' न हो तो भी उनका उस पर ध्यान नहीं होता या कम ध्यान होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते। सूर्य प्रकाश देता नहीं, उससे स्वाभाविक रूप से प्रकाश मिलता है। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी लोकसंग्रह करेगा नहीं, उसके द्वारा लोकसंग्रह अपने आप होगा।

कर्म के बिना लोकसंग्रह होगा क्या? ज्ञान के साथ चाहे कर्मयोग रहे, चाहे संन्यास रहे, लोकसंग्रह होगा। वह परिस्थिति पर निर्भर है। किसी खास परिस्थिति में कर्मयोग का असर होगा, किसी परिस्थिति में संन्यास का असर होगा। अमेरिका में 'टाइम इज मनी' (समय ही धन है) एक सिद्धांत है। वहां शांत बैठनेवाला मनुष्य लोकसंग्रह करेगा, लोगों को खींचेगा। जहां जड़ समाज है, लोग आलस्य में पड़े हैं, कर्म करनेवाला मनुष्य लोकसंग्रह करेगा।

ज्ञानी में लोकसंग्रह की इच्छा 'वासना' नहीं 'करुणा' कहलाती है। ज्ञानी को किसी भी प्रकार की वासना नहीं रहती, लोकसंग्रह की भी नहीं। 'मैं अगर कर्म नहीं करूंगा तो ये लोग नष्ट होंगे'—यह करुणा है, वासना नहीं। ज्ञान प्राप्त हुआ और करुणा न हो तो देह तत्काल गिर जायेगी। करुणा है इसलिए देह शेष है।

जब कोई ज्ञानी पुरुष मरता है तो हमें लगता है कि बड़ा नुकसान हो गया, इतने महान लोकसंग्रह से हम वंचित हो गये। लेकिन वास्तव में ज्ञानी पुरुष के सच्चे लोकसंग्रह की उस दिन से शुरुआत होती है। उसके पहले का लोकसंग्रह वास्तव में बहुत अल्प होता है।

लोकसेवा नम्र कर्तव्य है। लोकसंग्रह श्रेष्ठ अधिकार है। लोकसंग्रह यानी करोड़ों लोगों का संग्रह नही, लेकिन दुनिया में जो स्वच्छ, निर्मल लोग हैं, उनका खिंचाव हमारी ओर होना। समझना चाहिए कि अगर लोकसंग्रह नहीं हो रहा है, तो शुद्धि की कुछ कमी है। बाहर के स्वच्छ निर्मल लोगों को हम खींच न सके तो समझना चाहिए कि हमारी विचार-शुद्धि में कुछ कमी है।

चित्तशुद्धि के लिए कर्म : जो कुछ भी हम करते हैं, उसमें हमारी दृष्टि केवल चित्तशुद्धि की होनी चाहिए। बाह्य दृष्टि से किसी कर्म में हमें खूब सफलता भी मिले और लोग हमारा जय-जयकार करने लगे, फिर भी अगर उस कर्म से हमारे गुण नहीं बढ़े हैं, तो वह कर्म बुरा है। उससे हमने अपनी अवनति की है और दुनिया की भी होने दी है। कर्म चित्तशुद्धिकारक हो, उसके सिवा और किसी भी रूप में कर्म की तरफ देखना मुझे नहीं सुहाता।

शंकराचार्य कहते हैं कि चित्त की शुद्धि के लिए कर्म का उपयोग है, चित्तस्य शुद्धये कर्मः। (आत्म) वस्तु की उपलब्धि के लिए नहीं। चित्तशुद्धि नहीं होती तब तक बुद्धि पर मैल ढंका रहता है, वह सूक्ष्म विचार नहीं कर सकती।

चित्तशुद्धि के बहुत-से साधन हैं, उनमें नाम—स्मरण एक बहुत बड़ा साधन है। गणित से भी चित्तशुद्धि होती है। खाना-पीना-सोना सबका परिमाण संभालकर करने से चित्तशुद्धि साधने में मदद मिलेगी। उससे चित्त शांत रहेगा। तरंगें नहीं उठेंगी। वैसे चित्तशुद्धि यानी वासना-मुक्ति। वह महायुद्ध जैसा एक बहुत बड़ा कार्यक्रम है। चित्तशुद्धि की उस लड़ाई में सामूहिक साधना से बेहतर शस्त्र नहीं। आज मनुष्य की साधना व्यक्तिगत हो सकती है, यह समझना सर्वथा गलत है। यदि हम समाज से अलग होकर चित्तशुद्धि करने का विचार करें, तो चित्त में ही सारा संसार उठ खड़ा होगा। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर आदि का बहुत बड़ा समाज चित्त में खड़ा हो जाता है। इसकी अपेक्षा बाहर का जो समाज है, वही कल्याणकारी है। इसलिए सही बात तो यह है कि चित्तशुद्धि का साधन सामाजिक हो। यदि हम समाज से बाहर जाकर चित्तशुद्धि का यत्न करेंगे, तो भीतर-ही-भीतर लड़ाई शुरू हो जायेगी।। वैसे भी जीवन तो बाहर ही हुआ करता है। खाना-पीना, व्यवसाय करना आदि बातों के लिए समाज से संबंध रखना ही पड़ता है।

नित्य-नैमित्तिक कर्मों से चित्त की शुद्धि होती है। सृष्टिसेवा के कार्य से चित्तशुद्धि होती है। अगर कोई कम-से-कम समय और कम-से-कम कठिनाई से चित्तशुद्धि करना चाहता है तो उसे अन्नोत्पत्तिरूप यज्ञकार्य करना चाहिए। चित्तशुद्धि के लिए यह बड़ा महत्वपूर्ण उपाय माना जायेगा। अन्य उपायों की भी मदद ले सकते हैं। किन्तु वे सारे चटनी-तरकारी का काम करेंगे। रोटी का स्थान तो अन्नोत्पत्ति को ही मिल सकता है। अन्नोत्पत्ति के शरीरश्रम से समाज में ऊंच-नीच का भेद मिटता है, इंद्रियनिग्रह सधता है, समत्वबुद्धि प्राप्त होती है। स्वच्छता, स्फूर्ति बढ़ती है। अन्नोत्पत्ति के कार्य में चित्त को शुद्ध करने की विशेष योग्यता है, यदि वह फलत्याग के साथ किया जाये। कृषिकार्य में मिट्टी का स्पर्श मिलता है, वह शरीर में ताजगी लाता है। अन्नोत्पत्ति के शरीर-परिश्रमात्मक काम से शरीर मजबूत होता है और निरीक्षण-परीक्षण शक्ति, विवेकशक्ति, तर्कशक्ति और बुद्धि की समस्त शक्तियां भी बढ़ती हैं। उससे इंद्रियसंयम में भी सहायता मिलती है। कृषिकार्य में मानसिक उत्तेजना नहीं होती, बुद्धि में समता रहती है और जीवन दीर्घ होता है। इसके अलावा अन्न उत्पन्न करने का स्थूल किंतु अति आवश्यक कार्य भी होता है। प्राणिमात्र का पोषण करनेवाला यह अहिंसात्मक कार्य है।

निरंतर जाग्रत रहकर जो चित्तशुद्धि करता रहेगा, आलस्य, स्वार्थ, भोगवृत्ति, अप्रेम, अस्थिरता, अनिश्चय, असत्य आदि दुर्गुणों को चित्त से हटाता रहेगा उसके हाथ से उत्तम सेवा होगी। काम-क्रोध-लोभ से मुक्ति पाये बिना चित्तशुद्धि नहीं और चित्तशुद्धि के बिना समाजसेवा भी संभव नहीं। जनसेवा के लिए या सार्वजनिक कार्य के लिए हम अपने समय का, अपनी बुद्धिशक्ति का हिस्सा देते हैं, वह ठीक तो है, परंतु उतना पर्याप्त नहीं। सेवक को चाहिए कि वह इसके साथ अपनी चित्तशुद्धि करता रहे, निरहंकार बना रहे। परोपकार या लोकसेवा उसके परिणाम पर नहीं, हृदयशुद्धि और सच्चे प्रेमभाव पर निर्भर होती है। इसलिए आखिर कहना पड़ता है कि चित्तशुद्धि करना ही सही सार्वजनिक सेवा है। चित्तशुद्धि के न होने या उसके लिए प्रयत्न न करके अगर सार्वजनिक कार्य का स्वांग भरें, तो उससे द्वेष पैदा होता है, अहंकार

बढ़ता है, पक्षभेद होते हैं। सार्वजनिक सेवा में अपना समय, बुद्धि, शक्ति लगानी चाहिए, लेकिन उतने निर्णयभर से काम बनता नहीं। उसके लिए निरंतर हमारी चित्तशुद्धि होती रहनी चाहिए और अपने काम की कसौटी वही होनी चाहिए।

जितना हो सके उतना चित्त को निरहंकार, शुद्ध करने की कोशिश की जाये। यह भगवत् कृपा से होता है, मानवीय प्रयत्न से नहीं होता। लेकिन प्रयत्न के बिना भी नहीं होता। तो जितना हो सके, चित्त शुद्धि करें और दुनिया के अभिमुख रहें। प्रत्यक्ष क्रिया से जितना होता था, उससे ज्यादा परिणाम इससे होना चाहिए, ऐसा मेरा विचार है। इन दिनों एक्टिविटी (क्रिया) पर ज्यादा जोर दिया जाता है। उसमें शक्ति है लेकिन जितनी चित्तशुद्धि होगी, उतना बिना क्रिया के भी अधिक परिणाम आयेगा। जैसे-जैसे चित्तशुद्धि होगी, वैसे-वैसे बाह्म क्रिया कम होती जायेगी। वह कम करनी नहीं पड़ेगी। चित्तशुद्धिपूर्वक किया गया कर्म निर्लेप रहता है। उसका पाप-पुण्य बाकी

नहीं रहता।

कर्म के फलस्वरूप कर्मयोगी की शरीर-यात्रा चलती रहेगी, शरीर और बुद्धि दोनों सतेज रहेंगे। जिस समाज में वह विचरेगा, वह समाज सुखी होगा। इन दो फलों के अलावा चित्तशुद्धि का भी महान फल उसे मिलेगा। कर्मणा शुद्धिः—ऐसा कहा गया है। कर्म चित्तशुद्धि का साधन है, परंतु सर्वसाधारण जो कर्म करते हैं, वह नहीं। कर्मयोगी जो अभिमंत्रित कर्म करता है, उसी से चित्तशुद्ध होती है। और फिर निर्मल चित्त में ज्ञान का प्रतिबिंब पड़ता है। उसे चित्तशुद्धि होकर ज्ञान मिलेगा और समाज से ढोंग, पाखंड मिटकर जीवन का पवित्र आदर्श प्रकट होगा। कर्मयोग की यह अनुभवसिद्ध महिमा है।

•

3. कर्मअकर्म-विकर्म-

** कर्म यानी स्वधर्माचरण, लौकिक भाषा में कर्तव्य।*

** विकर्म यानी चित्तशुद्धिकारक आंतरिक कर्म।*

** कर्म+विकर्म=अकर्म,*

** संन्यास ही परम धन्य अकर्मावस्था है।*

गीता कहती है, कर्मतत्त्व बहुत गहन है—गहना कर्मणो गतिः। उस संदर्भ में गीता कर्म के साथ 'विकर्म' और 'अकर्म' ऐसे दो नये शब्दों का उपयोग भी करती है—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।

इसमें विकर्म का अर्थ है आत्मज्ञान। कर्म के साथ विकर्म को जोड देना चाहिए। दोनों के योग से अकर्मनिष्ठा प्राप्त करनी है। कर्म, विकर्म, अकर्म - गीता के ये तीन शब्द बड़े महत्त्व के हैं।

हमारा खाना, पीना, सोना ये कर्म ही हैं, परंतु गीता के 'कर्म' शब्द से ये सब क्रियाएं सूचित नहीं होती हैं। कर्म से यहां मतलब स्वधर्माचरण से है। इसे हम लौकिक भाषा में 'कर्तव्य' कहते हैं। जो सहज प्राप्त कर्तव्य है, अपनी ओर से उठाया हुआ नहीं है, वह कर्म है। 'कर्म' का अर्थ है, स्वधर्माचरण की बाहरी स्थूल क्रिया। इस बाहरी क्रिया में चित्त को लगाना ही 'विकर्म' है। ऊपर से हम किसी को नमस्कार करते हैं, परंतु सिर झुकाने की उस ऊपरी क्रिया के साथ ही यदि भीतर से मन भी न झुकता हो, तो बाह्य क्रिया व्यर्थ है। अंतर्बाह्य—भीतर और बाहर—दोनों एक होना चाहिए।

स्वधर्माचरण करते हुए चित्तशोधन होना चाहिए। चित्त-संशोधन के लिए जो-जो कर्म किये जाये, उन्हें गीता 'विकर्म' कहती है। जब हम कर्म में प्रवृत्त होते हैं, तब हमें अपने हजारों दोषों का भान होता है। कर्मयोग उन्हें उत्पन्न नहीं करता और न वह उन दोषों का कारण ही है। कर्मयोग तो आईने के समान हमारे दोषों का भान कराता है। स्वधर्माचरण के साथ चित्तशुद्धि के उद्देश्य से जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें गीता ने विकर्म कहा है। कर्म करते-करते मनुष्य अक्सर कठिनाई अनुभव करता है और कर्म से दूर भागना चाहता है। गीता कहती है— भागो मत, विकर्म की मदद लो। विकर्म मुख्यतः मानसिक क्रिया है। कर्म करते हुए जहां निष्ठा की कमी महसूस हो, अहंकार या दुर्बलता मालूम पड़े, वहां विकर्मरूपी उपासना करो। यदि दिनभर कर्म में व्यस्त रहते हैं तो थोड़ा समय उपासना के लिए निकालें।

तो स्वधर्माचरणरूपी बाह्य कर्म करते हुए चित्तशुद्धिकारक अनेक मानसिक साधनों का योग करना पड़ता है, उन्हें विकर्म कहते है। विकर्म गीता का अपना एक विशेष परिभाषिक शब्द है। 'विकर्म' के अर्थ के बारे में भाष्यकारों में मतभेद हैं। उसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की गयी है। प्रश्न है कि 'विकर्म' उपसर्ग का अर्थ क्या किया जाय। विविध, विरुद्ध, विपरीत, विशेष- 'वि' उपसर्ग के ये सब अर्थ हैं।

ज्ञानदेव महाराज ने विकर्म का अर्थ 'विकर्म कर्म' किया है और अकर्म का अर्थ 'खराब कर्म' किया है। शंकराचार्य ने विकर्म का अर्थ 'प्रतिषिद्ध कर्म' किया है और अकर्म का अर्थ 'कर्म न करना' किया है। विकर्म के अर्थ में हम ज्ञानदेव के साथ (विशेष कर्म) हैं और अकर्म के अर्थ में (न करना) शंकराचार्य के साथ हैं। मुख्यतः देखना यह होता है कि जो अर्थ किया है वह जीवन के साथ है या नहीं। इसके अलावा, किसी भी पद का अर्थ करते समय उसका संदर्भ भी देखना पड़ता है। गीता चौथे अध्याय में कहती है— विकर्म को जानना चाहिए और फिर

श्लोक 25 से 32 तक 7 विकर्म (विशेष कर्म) बताती है। अगर विकर्म का अर्थ विपरीत कर्म लेते हैं तो ऐसे विपरीत कर्म चौथे अध्याय में बताने चाहिए थे, लेकिन नहीं बताये गये हैं।

कर्म के साथ मन का मेल जरूरी है। इस मन के मेल को ही गीता 'विकर्म' कहती है। बाहर का स्वधर्मरूपी सामान्य कर्म और यह आंतरिक विशेष कर्म। यह विशेष कर्म अपनी-अपनी मानसिक आवश्यकता के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। इस विशेष कर्म का, इस मानसिक अनुसंधान का योग जब हम करेंगे, तभी उसमें निष्कामता की ज्योति जगेगी। कर्म के साथ जब विकर्म मिलता है, तो फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अंदर आती रहती है। यदि शरीर और मन भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं, तो साधन भी दोनों के लिए भिन्न-भिन्न ही होंगे। जब इन दोनों का मेल बैठ जाता है, तो साध्य हमारे हाथ लग जाता है। मन एक तरफ और शरीर दूसरी तरफ, ऐसा न हो जाये, इसलिए शास्त्रकारों ने दुहरा मार्ग बताया है। उपवास आदि बाहरी तप के चलते हुए यदि भीतर से मानसिक जप न हो, तो वह सारा तप व्यर्थ चला जाता है। तंत्र के साथ मंत्र होना चाहिए। केवल बाह्य तंत्र का कोई महत्त्व नहीं है। केवल कर्महीन मंत्र का भी कोई महत्त्व नहीं है। हाथ में भी सेवा हो और हृदय में भी सेवा हो, तभी सच्ची सेवा हमारे हाथों बन पायेगी।

यदि बाह्य कर्म में हृदय की आर्द्रता न रही, तो वह स्वधर्माचरण सूखा रह जायेगा। कर्म के साथ जब आंतरिक भाव का मेल हो जाता है, तो वह कर्म कुछ निराला ही हो जाता है। तेल और बत्ती के साथ जब ज्योति का मेल होता है, तब प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्म के साथ विकर्म का मेल होने पर निष्कामता आती है। बारूद में बत्ती लगाने से स्फोट होता है। उस बारूद में एक शक्ति उत्पन्न होती है। कर्म को बंदूक की बारूद समझो। उसमें विकर्म की बत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जब तक विकर्म का आकार नहीं मिलता, तब तक वह कर्म जड़ है। उसमें चैतन्य नहीं है। एक बार जहां विकर्म की चिनगारी उसमें गिरी कि फिर उस कर्म में जो सामर्थ्य

पैदा होती है, वह अवर्णनीय है। चिमटीभर बारूद जेब में पड़ी रहती है, हाथ में उछलती रहती है, पर जहां उसमें बत्ती लगी कि शरीर की चिंदी-चिंदी उड़ी। स्वधर्माचरण की अनंत सामर्थ्य इसी तरह गुप्त रहती है। उसमें विकर्म को जोड़िये, फिर देखिये कि कैसे-कैसे बनाव-बिगाड़ होते हैं। उसके स्फोट से अहंकार, काम, क्रोध के प्राण उड़ जायेंगे और उसमें से उस परम ज्ञान की निष्पत्ति हो जायेगी। कर्म के साथ जब विकर्म का जोड़ मिल जाता है, तो शक्ति-स्फोट होता है और उसमें से अकर्म का निर्माण होता है।

कर्म में विकर्म उंड़ेलने से अकर्म होता है, इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह कि ऐसा मालूम ही नहीं होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्म का बोझ नहीं मालूम होता। करके भी अकर्ता रहते हैं। विकर्म के कारण, मन की शुद्धि के कारण कर्म का कर्मत्व उड़ जाता है। चित्त-शुद्धि से किया हुआ कर्म निर्लेप रहता है। उसका पाप-पुण्य बाकी नहीं रहता, नहीं तो कर्म का कितना बोझ, कितना जोर, हमारी बुद्धि और हृदय पर पड़ता है! कर्म का जंजाल चित्त में घुसकर क्षोभ पैदा करता है। सुख-दुःख के द्वंद्व निर्माण होते हैं। सारी शांति नष्ट हो जाती है। कर्म हुआ और होकर चला भी गया, परंतु उसका वेग बाकी बचा ही रहता है। कर्म चित्त पर हावी हो जाता है। फिर उसकी नींद हराम हो जाती है।

परंतु ऐसे इस कर्म में यदि विकर्म को मिला दें, तो फिर चाहे जितने कर्म करें उनका श्रम नहीं मालूम होता। मन ध्रुव की तरह शांत, स्थिर और तेजोमय बना रहता है। कर्म में विकर्म डाल देने से वह अकर्म हो जाता है, मानो कर्म को करके फिर उसे पोंछ दिया हो।

साधन के रूप में बाहर से स्वधर्माचरण और भीतर से मन का विकर्म, दोनों बातें चाहिए। बाह्य कर्म की भी आवश्यकता है ही। कर्म किये बिना मन की परीक्षा नहीं होती। कर्मों से हमारे मन का स्वरूप प्रकट होता है। पानी ऊपर से साफ दीखता है। परंतु उसमें पत्थर डालिए, तुरंत ही अंदर की गंदगी ऊपर आयेगी। वैसी ही दशा हमारे मन की है। मन के अंतः सरोवर में घुटनेभर

गंदगी जमा रहती है। कर्म यह बतला देता है कि आप क्रोधी हैं, स्वार्थी हैं या और कुछ हैं। कर्म वह दर्पण है, जो हमारा स्वरूप हमें दिखा देता है। सारांश, अपने मन का स्वरूप समझने के लिए कर्म बड़े काम की चीज है। कर्म करेंगे तो दोष दिखायी देंगे। उन्हें दूर करने के लिए विकर्म की योजना करनी पड़ती है। भीतर जब ऐसे विकर्म की योजना करनी पड़ती है। जब ऐसे प्रयत्न रात-दिन जारी रहने लगेंगे, तो फिर स्वधर्म का आचरण करते हुए भी अलिप्त कैसे रहें, कामक्रोधातीत, लोभमोहातीत कैसे रहें, यह बात यथासमय समझ में आ जायेगी। कर्म को निर्मल रखने का सतत प्रयत्न हो, तो फिर आगे चलकर निर्मल कर्म अपने-आप होने लगेगा। निर्विकार कर्म जब एक के बाद एक सहज भाव से होने लगते हैं, तो फिर यह पता भी नहीं लगता कि कर्म कब हो गया। जब कर्म इस प्रकार सहज हो जाता है, तो वह अकर्म हो जाता है। सहज कर्म को ही अकर्म कहते है, फिर उनका बोझ नहीं मालूम होता। मन की ऐसी स्थिति हो जाती है कि कर्म में त्रास या कष्ट बिल्कुल नहीं मालूम होता। हजारों कर्म हाथों से होते रहने पर भी मन निर्मल और शांत रहता है। इसका भावार्थ यही है कि स्वधर्माचरण संबंधी कर्म को विकर्म की सहायता से निर्विकार बनाने की आदत होते-होते कर्म स्वाभाविक हो जाते हैं। बड़े-बड़े विकट अवसर भी फिर मुश्किल नहीं मालूम होते। बाह्य कर्मों की झंझट नहीं मालूम होती। कर्म का अहंकार ही मिट जाता है। काम-क्रोध के वेग नष्ट हो जाते हैं। क्लेशों का अनुभव तक नहीं होता। कर्म को भी भान बाकी नहीं रहता। अकर्म की ऐसी भूमिका है। साधन इतने नैसर्गिक और स्वाभाविक हो जाते हैं कि उनका आना-जाना मालूम नहीं पड़ता। इंद्रियां उनकी सहज आदी हो जाती हैं। जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब कर्म अकर्म हो जाता है। ज्ञानी पुरुष के लिए सत्कर्म सहज हो जाते हैं। सच बोलना, भूतमात्र के प्रति दया, किसी का दोष न देखना, सबकी सेवा-शुश्रूषा करना आदि सत्पुरुषों के कर्म सहजरूप से होते रहते हैं। खाना, पीना, सोना जैसे सांसारिकों के सहज कर्म हैं, वैसे ही सेवाकर्म ज्ञानियों के सहज कर्म हैं। ऐसे ज्ञानी पुरुष का कर्म अकर्म दशा को पहुँच गया है, ऐसा समझना चाहिए।

सारांश, स्वधर्माचरण रूपी कर्म, उसके लिए सहायक मानसिक साधनारूप विकर्म, और इन दोनों की साधना से संपूर्ण कर्मों को भस्म करनेवाले अकर्म की अंतिम भूमिका—इस प्रकार गीता के 3.4.5 अध्याय में जीवनशास्त्र का प्रतिपादन हुआ है। कर्म-विकर्म मिलकर सारी साधना पूर्ण होती है। कर्म स्थूल वस्तु है। जो-जो स्वधर्म हम करें, उसमें हमारे मन का सहयोग होना चाहिए। मानसिक शिक्षण के लिए जो करना पड़ता है, वह विकर्म, विशेषकर्म अथवा सूक्ष्म कर्म है। आवश्यकता कर्म और विकर्म दोनों की है। इन दोनों का प्रयोग करते-करते अकर्म की भूमिका तैयार होती है। इस भूमिका में कर्म और संन्यास दोनों एकरूप हो जाते हैं। दोनों का एकत्व अनुभव करना ही मुख्य सार है। अकर्म दशा अंतिम साध्य, आखिरी मंजिल है। इस स्थिति को ही 'मोक्ष' की संज्ञा दी गयी है।

•

4. कर्मयोगकर्मसंन्यास-

** कर्मयोग, कर्मसंन्यास—द्विविध अकर्मावस्था है।*

** करते हुए न करना, कर्मयोग है।*

** न करते हुए करना, संन्यास है।*

** दोनों का स्वरूप, फल, ध्येय समान है।*

** संन्यास मंजिल, अंतिम अवस्था है।*

** कर्मयोग—मार्ग और मंजिल, दोनों है।*

** साधक की दृष्टि से कर्मयोग अनुकरण सुलभ है।*

चौथे अध्याय में गीता ने विकर्म और अकर्म ऐसे दो नये शब्दों का इस्तेमाल किया है। विकर्म का अर्थ है, चित्तशुद्धिकारक कर्म और अकर्म का अर्थ है आत्मज्ञान। कर्मयोग का विकर्म के साथ योग होता है, तब आत्मज्ञान प्रकट होता है। आत्मज्ञान को गीता ने अकर्म कहा है। विकर्म मानसिक कर्म है जो स्वधर्माचरण का कर्म करते हुए उसकी सहायता के लिए किया जाता है। कर्म और विकर्म, दोनों के एकरूप होने पर जब चित्त की पूर्ण शुद्धि हो जाती है, सब प्रकार के मैल धुल जाते हैं, वासना चली जाती है, विकार शांत हो जाते हैं, भेदभाव मिट जाता है, तब अकर्म दशा प्राप्त होती है। यह अकर्म दशा भी दो प्रकार की बतायी गयी है। एक प्रकार तो यह कि दिन-रात कर्म करते हुए भी मानो लेशमात्र कर्म न कर रहे हों, ऐसा अनुभव होना। इसके विपरीत दूसरा प्रकार यह कि कुछ भी न करते हुए, सतत कर्म करते रहना। इस तरह अकर्म दशा दो प्रकार से सिद्ध होती है। ये दो प्रकार यों तो अलग-अलग दिखायी देते हैं, तथापि

पूर्णरूप से एक ही हैं। इन्हें कर्मयोग और कर्मसंन्यास ऐसे दो नाम दिये गये हैं, फिर भी भीतर की सारवस्तु दोनों में एक ही है। आत्मज्ञान के ये दो अनुभव हैं।

तो अकर्म का एक पहलू है योग, अर्थात् करके न करना। कर्म हमारे आगे-पीछे, अगल-बगल सब ओर व्याप्त है। मन जब इन कर्मों में फंसा रहता है तब श्रम मालूम होता है। परंतु कर्म जब सहज होने लगते हैं, तो फिर उनका बोझ नहीं मालूम होता। कर्म मानो अकर्म हो जाता है, आनंदमय हो जाता है। दुनियाभर के कर्म करते हुए भी वे सब गल जाते हैं। कर्म करके भी उन सबका 'गल जाना' यह बात आखिर है कैसी? सूर्य के जैसी है। सूर्य रात-दिन कर्म कर रहा है। परंतु इतना कर्म करते हुए भी ऐसा कहा जा सकता है कि वह कुछ भी नहीं करता। यह स्थिति सचमुच अद्भुत है। परंतु यह तो संन्यास का सिर्फ एक प्रकार हुआ। वह कुछ भी कर्म नहीं करता फिर भी सारी दुनिया को कर्म करने में प्रवृत्त करता है, यह उसका दूसरा पहलू है। उसमें अपरंपार प्रेरक शक्ति है। सूर्य खुद आवाज नहीं लगाता, परंतु उसके उगते ही पंछी उड़ने लगते हैं, मेमने नाचने लगते हैं, गायें वन में चरने जाती हैं, व्यापारी दूकान खोलते हैं, किसान खेत पर जाते हैं, संसार के नाना व्यवहार शुरू हो जाते हैं। सूर्य केवल है, उतने से ही अनंत कर्म शुरू हो जाते हैं। इस अकर्मावस्था में अनंत कर्मों की प्रेरणा, सामर्थ्य ठसाठस भरा रहता है। यह संन्यास का दूसरा अद्भुत प्रकार है। इसी अकर्म दशा को 'संन्यास' नामक अति पवित्र पदवी दी गयी है। संन्यास ही परम धन्य अकर्म दशा है। इस दशा को 'कर्मयोग' भी कहना चाहिए। कर्म करता रहता है, अतः वह 'योग' है, परंतु करते हुए भी कर रहा है, ऐसा नहीं लगता, इसलिए वही 'संन्यास' है। वह कुछ ऐसी युक्ति से कर्म करता है कि उसे उसका लेप नहीं लगता, इसलिए वह 'योग' है, और करके भी कुछ नहीं किया इसलिए वह 'संन्यास' है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः (गी.4.18)—कर्म में अकर्म देखना और अकर्म में कर्म देखना अर्थात् करके न करना और न करके करना। यह श्लोक संपूर्ण गीता की

चाभी है। एक ही ज्ञानी पुरुष को यह दुहरा अनुभव आया करता है। पर किसी के जीवन में प्रधानतः करते हुए न करने का खेल दीख पड़ता है। दूसरे के जीवन में न करते हुए करने का खेल प्रकट होता है। पहले को योगी कहते हैं, दूसरे को संन्यासी। वस्तुतः दोनों एक ही हैं। दोनों में फरक नहीं है। दोनों का आंतरिक स्वरूप एक ही है। दोनों वीतराग हैं, दोनों में रागद्वेष नहीं हैं। दो तोला सोना गोलाकार है, दो तोला सोना त्रिकोणाकार है—दोनों का व्यावहारिक मूल्य एक ही है, वास्तविक मूल्य भी एक ही है। वैसे ही संन्यासी और कर्मयोगी, दोनों ज्ञानी हैं और दोनों का व्यावहारिक और वास्तविक मूल्य एक ही है। संन्यासी ने कर्म का त्याग किया है, लेकिन उसने कर्म को कर्म-द्वेष से नहीं छोड़ा। और दूसरी ओर, कर्मयोगी कर्म-राग से प्रेरित होकर कर्म नहीं करता। दोनों की प्रेरणा रागद्वेषरहित होने से संन्यास और कर्मयोग, दोनों स्वरूपतः एक ही है।

कर्मयोग और संन्यास दोनों का स्वरूप समान है, वैसे दोनों के फल भी समान है। कर्मयोग का विशेष फल है, लोकसंग्रह और संन्यास का विशेष फल है, परम शांति। आत्मज्ञानी यदि कर्मयोगी है तो लोकसंग्रह के साथ शांति पाता है। और आत्मज्ञानी यदि संन्यासी है, तो परम शांति उसे मिलती ही है, इसके अलावा वह उसका लोकसंग्रह भी करता है। चाहे उसका लोकसंग्रह हमें न दीखे। पहाड़ कुछ भी नहीं करते, केवल खड़े रहते हैं। निश्चल समाधिस्थ-से दिखायी देते हैं। परंतु वे बड़ा भारी काम करते हैं, मेघों को खींचने का। लोहचुंबक केवल पड़ा रहता है, कुछ भी नहीं करता किंतु लोहे को खींच लेता है। ध्यानस्थ योगी भी लोहचुंबक की भांति कुछ भी न करते हुए महान लोकसंग्रह करते हैं। अकर्म के कर्म का ये उदाहरण है।

नींद में हमें स्वप्न आते हैं। स्वप्न में हम हजारों मील की यात्रा करते हैं, हंसते हैं, रोते हैं और न जाने क्या-क्या करते हैं। वह सब होते हुए भी जगने पर हम कहते हैं कि हमने कुछ भी नहीं किया। ज्ञानी की भी यही स्थिति है। सब कुछ करते हुए वह उन्हें स्वप्नवत् मानता है। वह

मानता है कि मैं कुछ नहीं करता। स्वप्न में मन का व्यापार चलता है, जागृति में मन और शरीर दोनों काम करते हैं। दोनों अवस्था में आत्मा कोई कार्य नहीं करती है। सब कुछ करते हुए भी आत्मज्ञानी अपने को अलिप्त, अकर्ता मानता है।

तीसरी बात, दोनों का ध्येय समान है। संन्यासी और कर्मयोगी दोनों को एक ही स्थान प्राप्त होता है, मोक्ष। कुल मिलाकर देखें तो स्वरूप-फल-ध्येय, तीनों दृष्टि से संन्यासी और कर्मयोगी दोनों में कोई भेद नहीं, दोनों एक ही हैं। दोनों में भेद सिर्फ आकार का है, प्रकार का नहीं।

प्रथम संन्यास और बाद में भी संन्यास, यह अव्यक्तोपासना है। प्रथम योग और बाद में योग का संन्यास, दोनों में से कोई भी हो, वह व्यक्तोपासना है।

कर्मयोग और संन्यास में, कर्मयोग आत्मज्ञान के पूर्व और आत्मज्ञान के पश्चात, दोनों अवस्थाओं में साध्य है। किंतु संन्यास की बात भिन्न है। आत्मज्ञान के पूर्व संन्यास को गीता असाध्य तो नहीं कहती, किंतु कष्टसाध्य कहती है। वह अत्यंत दुःसाध्य है और इसी कारण दोनों की योग्यता बराबर होने पर भी संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को श्रेष्ठ बताती है— कर्मयोगो विशिष्यते (गी.52)। अकर्म में कर्म अर्थात् न करके करना साधक की समझ में नहीं आ सकता। कर्म में अकर्म, करके न करना वह समझ सकता है। कर्मयोग मार्ग में भी है और मुकाम पर भी है, परंतु संन्यास सिर्फ मुकाम पर ही है, मार्ग में नहीं। यदि यही बात शास्त्र की भाषा में कहनी हो तो कर्मयोग साधन भी है और निष्ठा भी, परंतु संन्यास सिर्फ निष्ठा है। निष्ठा का अर्थ है, अंतिम अवस्था। तो संन्यास और कर्मयोग, पूर्णरूप में दोनों की कीमत एक-सी है, परंतु कर्मयोग की व्यावहारिक कीमत ज्यादा है। पूर्णावस्था में कर्मयोग और कर्मसंन्यास दोनों की कीमत एक-सी है, क्योंकि ज्ञान दोनों में है और ज्ञान की कीमत अनंत है। अनंत में कुछ भी मिलाओ, कीमत अनंत रहती है, गणितशास्त्र का यह सिद्धांत है। मानो, कर्मयोग— 50,

संन्यास—45। परंतु अनंत + 50—45। क्योंकि दोनों ओर अनंत समानरूप से है। तो ज्ञान + कर्म = संन्यास। क्योंकि ज्ञान = अनंत। सिद्वावस्था में दोनों तरफ ज्ञान समान रहता है। कर्मसंन्यास और कर्मयोग जब परिपूर्ण ज्ञान में मिल जाते हैं, तो दोनों की कीमत बराबर हो जाती है। परंतु ज्ञान को यदि दोनों ओर से हटा लिया जाय तो फिर कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही साधक के लिए श्रेष्ठ सिद्ध होगा। कर्मयोग अनुकरणसुलभ है, यही संन्यास की अपेक्षा उसकी विशेषता है। पूर्णावस्था में कर्मयोग और संन्यास, दोनों समान ही हैं। नाम दो हैं, देखने में अलग-अलग हैं, परंतु असल में दोनों हैं एक ही। एक प्रकार में कर्म का भूत बाहर नाचता हुआ दिखायी देता है, परंतु भीतर शांति है। दूसरे प्रकार में कुछ न करते हुए त्रिभुवन को हिला डालने की शक्ति है। जैसा दीख पड़ता है, वैसा न होना—यह दोनों का स्वरूप है। पूर्ण कर्मयोग संन्यास है तो पूर्ण संन्यास कर्मयोग है।

•

5. आत्मा अकर्ता

** आत्मा अकर्ता, गीता का ध्रुपद*

** देहधारी अवस्था में आत्मा का अकर्तृत्व अनुभव करके फलत्याग*

** प्रकृति कर्ता, अहंकारवश मनुष्य अपने को कर्ता मानता है*

** कर्म करनेवाले पांच घटक*

** कोऽहम का परिशुद्ध चिंतन*

** आत्मा न कर्ता, न कर्म, न प्रेरक*

** आत्मा केवल साक्षी*

भगवद्गीता कहती है – आत्मा का अकर्तृत्व पहचानो और साथ ही देह के द्वारा स्वधर्म का आचरण करो। अकर्तापन और स्वधर्माचरण, ये दोनों बातें परस्पर विरोधी लगती हैं। दोनों का मेल कैसे बिठाया जाये? जब तक मनुष्य देह में है, तब तक कुछ-न-कुछ कर्म करना ही पड़ता है। फिर आत्मा के अकर्तृत्व का अनुभव कैसे आयेगा? उसके लिए फल का अधिकार छोड़ देने की युक्ति गीता बताती है – कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन (गी. 2.47) तो, गीता कर्म करके फलत्याग द्वारा कर्तृत्व को काटना सिखाती है। देहधारी अवस्था में आत्मा के अकर्तृत्व का अनुभव करने की यह युक्ति है।

गीता का कहना है – "कर्तापन के अभिमान से छूटने के लिए फल को अपने से अलग कर दे। ईश्वर को अर्पण कर दे, समाज को दे दे, चाहे तो हवा में फेंक दे, परंतु तू स्वयं उसे मत ले। किसी के कहने से नहीं, बल्कि इसलिए कि तेरा तत्त्वज्ञान ही इस विषय में बाधक होता है। तेरा तत्त्वज्ञान कहता है कि आत्मा से किसी क्रिया का संबंध नहीं है और आत्मा को क्रिया

का स्पर्श न होने देने की युक्ति है – फल को छोड़ देना। यह तत्त्वज्ञान ही गीता के निष्काम कर्मयोग की बुनियाद है। देह के कारण कर्म छूटता नहीं और तत्त्वज्ञान के कारण फलयुक्त कर्म का हिसाब बैठता नहीं। इस तरह इन दोनों ओर की कठिनाइयों में से गीता ने फलत्यागपूर्वक कर्मयोग की युक्ति खोज निकाली है। बिलकुल तर्कशुद्ध रीति से आत्मा के अकर्तापन में से फलत्याग का सिद्धांत फलित होता है।

गीता सतत कहती है – 'आत्मा अकर्ता है'। अहंकार के कारण मनुष्य अपने को कर्ता मानता है—अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते (गी.3. 27)। यहां गीता कहती है, प्रकृति के गुणों के कारण सारे कर्म होते रहते हैं— प्रकृति के गुणों के कारण सारे कर्म होते रहते हैं—प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः (गी. 3.27)। सत्त्व-रज-तम, प्रकृति के ये तीन गुण ही सब कुछ करते हैं। आत्मा तो इन गुणों से असंपृक्त है, परे है। गुण कर्म पैदा करता है और फिर कर्म के अनुसार एक गुण से अनेक गुण पैदा होते हैं। फिर उन गुणों से कर्म पैदा होते हैं और कर्म से गुण—यह चक्र चलता ही रहता है, इस तरह गुणों की संतति चालू होती है, गुण-जाल बढ़ता जाता है। फिर जीव गुण-संयुक्त बनता है। कर्म पैदा करता है गुण, लेकिन भोगता है यह बेवकूफ जीव। जीव मानता है कि 'यह मैंने किया, वह मैंने किया।' वास्तव में गुण ने कर्म किये, लेकिन जीव निष्कारण गुण-संयुक्त होकर कर्म भोगता है। तो कर्तृत्व का संबंध अपने साथ नहीं जोड़ना है। मैं इन सब कर्मों से परे हूं, ऐसा अनुभव आना चाहिए। कर्तृत्व सारा प्रकृति का, आत्मा समस्त कर्मों से पृथक, इस प्रकार अपनी अकर्मण्यता का अनुभव करें।

गीता का शास्त्रीय निर्णय है कि कर्म का आत्मा से बिलकुल संबंध नहीं। तो फिर कर्म किसके द्वारा किये जाते हैं? कर्म करानेवाले, कर्म की प्रेरणा देनेवाले, कर्म कार्यान्वित करनेवाले अनात्मरूप घटक कौन-से ? तो गीता बताती है कि अधिष्ठान, कर्ता करण, विविध

चेष्टा और दैव—ये पांच कारण मिलकर कार्य होता है। हम इसमें कहीं भी नही। यानी कर्ममात्र का आत्मा से कोई संबंध नहीं आता। इन पांच कारणों को कर्म का मूलाधार मानना पड़ता है। कर्म की सब व्यवस्था हमारे बाहर हो रही है। उसका मुझसे कोई संबंध नहीं। आत्मा कर्म के इस व्यवहार में कुछ नहीं कर रही है। लेकिन उस पर उसका आरोप होता है। मनुष्य वाणी, मन, शरीर से जो कुछ शास्त्रानुकूल या विपरीत कार्य करता है, उसके उपरोक्त पांच कारण हैं। फिर भी संस्कारहीन मनुष्य इस विषय में केवल आत्मा को कर्ता देखता है। हमारी बुद्धि असंस्कृत है, संस्कारहीन है। इसलिए हम कर्ता के भाव का अपने में, आत्मा में आरोप करते हैं।

आत्मा का अकर्तापन, गीता का ध्रुपद है। गीता यह बार-बार कहती है। पुण्य-संस्कृत है, संस्कारहीन है। इसलिए हम कर्ता के भाव का अपने में, आत्मा में आरोप करते हैं।

आत्मा का अकर्तापन गीता का ध्रुपद है। गीता यह बात बार-बार कहती है। पुण्य-संस्पुष्ट आत्मा भी शुद्ध आत्मा नहीं। मैं पुण्य करने वाला पुण्यकर्ता हूं, अगर कोई ऐसा मानता है, तो शुद्ध आत्मा मिलेगी नहीं। मिश्र या शबल आत्मा मिलेगी। उसके पीछे अहंकार चिपकेगा। काम किया ही नहीं, ऐसा नम्रतापूर्वक कहना भी एक प्रकार का अहंकार ही है। वह नम्रता लोकोपयोगी है, परंतु वहां भी शुद्ध आत्मा मिलेगी नहीं।

गीता अलिप्त रहकर निरहंकारभाव से कर्म करने को कहती है। वह हमें कहती है कि कर्म तो इंद्रियों और बुद्धि ने किया है। तू आत्मा होकर उसका अहंकार कैसे कर सकता है? तुमने मानो उत्तम-से-उत्तम कार्य किया और सत्त्वगुण से प्राप्त होनेवाली उच्च अवस्था को प्राप्त किया। उस अवस्था से तू संतुष्ट हो जाता है, तो वह तेरी भूल है। तू तो उससे भी महान है और आत्मतृप्ति की उस अवस्था में, कर्म चाहे सात्त्विक भी क्यों न हो, कचरा जैसा है। कचरे का क्या अहंकार करना? उसे छोड़ दे।

मनुष्य को चाहिए कि वह सतत आत्मचिंतन करे और कोऽहम्—'मैं कौन हूं' का निर्णय कर ले। आत्मा सहज ही अकर्ता है। सर्व कर्म से अलग, परिशुद्ध, साक्षीरूप है। परंतु कोऽहम् का ऐसा अत्यंत शुद्ध उत्तर, यद्यपि बुद्धि को जंचता है, मनुष्य के हृदय में हमेशा ही अंकित नहीं होता। अगर वैसे अंकित होगा, तो उसके सर्व कर्म तत्क्षण गिर जायेंगे। यही विशुद्धावस्था हम सबको प्राप्त करनी है।

हमारा व्यक्तिगत स्वरूप बिलकुल छूट जाये और हम 'केवल' होकर रहें। संस्कृत के इस 'केवल' शब्द में बहुत अर्थ भरा है। काम को सामने न रखते हुए हम अकर्तृत्वस्वरूप होकर जीयें।

गीता कहती है, आत्मा न हन्ति, न घातयति, न हन्यते—न मरती है, न मरवाती है, न मारी जाती है। आत्मा किसी भी क्रिया का न कर्ता है, न कर्म है, न प्रेरक है। इन तीनों द्वारा क्रिया से संबंध आता है। तो कह सकते हैं कि आत्मा का क्रिया से कोई संबंध है ही नहीं। हम न कोई चीज करते हैं, न किसी क्रिया के कर्म बनते हैं, न किसी से करवाते हैं। संसार में इससे विपरीत देखने को मिलता है। वहां मनुष्य नाना प्रकार के कर्म करने और कराने का अनुभव करता है, लेकिन गीता का मूलभूत सिद्धांत है कि आत्मा क्रिया से असंपृक्त है। गीता के सिद्धांत के अनुसार हमें अपना पूरा जीवन आत्मा के अकर्तृत्व और स्वधर्मपालन—इन दो सिद्धांतों पर खड़ा करना है।

आत्मा न मारती है—न हन्ति, न मरती है— न हन्यते। न मरवाती है— न घातयति। यह आत्मा का स्वभाव है। वह सहज है। वह कर्ममुक्त है, कोई क्रिया नहीं करती। मारती नहीं, मरती नहीं, ऐसी आत्मा है और यही अहिंसा है। आत्मा के साथ अहिंसा जुड़ी है, इसलिए हम जितने आत्म-स्वभाव के नजदीक जायेंगे, अंतःसंस्तुष्टि और शांति मिलेगी। और जितने आत्म-स्वभाव से दूर जायेंगे, उतने शांति से भी दूर जायेंगे।

शंकराचार्य का कहना है कि ज्ञानी से कर्म हो ही नहीं सकता। परंतु वही शंकराचार्य अपने भाष्य में कहते हैं—ज्ञानी समस्त कर्मों, निषिद्ध कर्मों को भी करके अकर्ता रहता है—सर्वकर्माण्यपि निषिद्धान्यपि कुर्वाणः। उन्होंने एक ओर ज्ञान का गौरव बताया और दूसरी ओर ज्ञान का स्वरूप। ज्ञानी, स्थितप्रज्ञ के ज्ञान का स्वरूप यह है कि वह कोई भी कर्म नहीं करता। उसके ज्ञान का गौरव यह है कि निषिद्ध कर्म भी उसकी राह में बाधक नहीं होते।

जो अपने को कर्म का कर्ता मानता ही नहीं, उसकी बुद्धि उस कर्म के भले-बुरे फलों में कैसे उलझी रहेगी? गीता कहती है कि ऐसी अकर्तात्मनिष्ठ बुद्धि में विश्व-संहार भी बाधक नहीं होता—हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न हन्यते। यह उसके ज्ञान का गौरव-लक्षण है कि विश्व को मारता है फिर भी उसे पाप नहीं लगता। दूसरी ओर उसका स्वरूप ऐसा है कि वह सात्त्विक कर्म भी नहीं करता। विश्वसंहार और अकर्तास्वरूप—इन दोनों के बीच उसका नीतिसूत्र है। बीच में यानी कहां? वह उस काल की परिस्थिति पर अवलंबित है।

आत्मा साक्षी है। इसके अतिरिक्त उसका कर्म के साथ कोई संबंध नहीं होता। जिसने यह पहचान लिया, वह स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी भी क्रिया का कर्तृत्व, कर्मत्व, अथवा प्रेरकत्व अपने ऊपर नहीं ले सकता। करनेवाला कर्ता, क्रिया का आधार कर्म, कर्म की प्रेरणा देनेवाला प्रेरक—आत्मा का तीनों से संबंध नहीं।

राजा केवल साक्षित्व से प्रजा को हिलाता है, लोहचुंबक सान्निध्यमात्र से लोहे को घुमाता है। वैसे सारी दुनिया को घूमानेवाली आत्मा मैं हूं—भामयन् जगदात्मा अहम्। कोई भी क्रिया नहीं करता हूँ—निष्क्रिय हूँ और अकारकः यानी किसी प्रकार के कारक से संबंध नहीं। अर्थात् किसी से कराता नहीं। अद्वयः—द्वयरहित हूं। यह है आत्मा, जो सान्निधिमात्रेण सब करती है। आत्मा उपस्थित है, इतना बस है।

शंकराचार्य कहते हैं, आत्मनः कर्तृता मृषा, आत्मा की कर्तृता यानी कर्तापन की भावना, कर्तव्यभावना मृषा है, व्यर्थ है। क्योंकि उसमें देहात्मक बुद्धि की अपेक्षा रहती मुझे फलाना कर्म करना है, यानी देह की कृति हो तो देह का अभिमान आ गया, इंद्रियों की कृति हो तो इंद्रियों का अभिमान आ गया। आत्मा के पीछे कर्तव्य है, यह कल्पना मिथ्या है। नैव किंचित् करोमि—'मैं तो कुछ भी नहीं करता' यह जो अनुभव है, बुद्धि है, वह सत्य है। क्योंकि वह प्रमाणित है, वेदांतशास्त्र उसके लिए प्रमाण देता है। इसके अलावा, कर्तृत्वं कारकापेक्षम्—कर्तृत्व स्वभावतः—अकर्तृत्व स्वाभाविक है। अकर्तृत्व के लिए कुछ करना नहीं पड़ता। सत्य बोलने के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता और झूठ बोलने के लिए कितना सोचना पड़ता है, षड्यंत्र करना पड़ता है। अकर्तृत्व के लिए कुछ नहीं चाहिए। मैं कर्ता, मैं भोक्ता, यह जो विज्ञान है, वह मृषा है, व्यर्थ है। अकर्ता और अभोक्ता स्वरूप आत्मा का स्वरूप है।

गीता में बताया गया है कि ईश्वर जब अवतार लेता है, तब वह महान कर्म करता हुआ दिखायी देता है, पर उस कर्म का लेप उसे नहीं लगता। उस समय भी वह अकर्ता रहता है। इसके उलट, जब वह अपने मूल रूप में रहता है, अर्थात् अवतार ग्रहण नहीं करता है, तब वह कुछ भी नहीं करता है, ऐसा दिखायी देता है, पर उस वक्त भी वह सारी दुनिया का शासन करता रहता है। अर्थात् अकर्ता होकर भी वह सब कर्म करता है।

'परमेश्वर उससे अच्छा काम कराता है, जिसकी वह उन्नति चाहता है और उससे बुरा काम कराता है, जिसकी वह अवनति चाहता है।'—उपनिषद का यह अद्वितीय वाक्य है। जीव के स्वतंत्र कर्तृत्व के लिए इसमें लेशमात्र भी अवकाश नहीं रखा है। सारा बोझ ईश्वर के सिर पर डाल दिया है। इस पर भाष्यकार कहते हैं— कुर्वन्नं हि तं ईश्वरः कारयति—जीव करता है, उससे ईश्वर कराता है। कर्तृत्व से ईश्वर को बचाने के लिए भाष्यकार को ऐसी युक्ति प्रयुक्त करनी पड़ी। इस पर गीताई-चिंतनिकाकार टिप्पणी देता है—ईश्वर कहता है—'तू जैसा करना

चाहता है, वैसा मैं कराता हूं। यह कहकर ईश्वर ने छुटकारा पा लिया। भक्त को कहना चाहिए— 'जैसा तू करायेगा वैसा ही मैं करूंगा' तो, वह भी छुटकारा पा लेगा।

•

6. स्वधर्म

** गीता का कर्म—स्वधर्माचरण*

** स्वधर्म खोजना नहीं पड़ता*

** स्वधर्म, हमारे जन्म का हेतु*

** स्वधर्म तय करने के लिए कोऽहम् का जवाब ढूंढें*

** स्वधर्म के निर्णायक तत्त्व—अपनी शक्ति, वृत्ति, शिक्षण आदि*

** धर्म व्यापक है तो स्वधर्म व्यापक और विशिष्ट है।*

** स्वधर्म के दो अर्थ- तात्त्विक, नैतिक*

** अलग-अलग मनुष्य के अलग-अलग धर्म*

** बदलनेवाला और न बदलनेवाला स्वधर्म*

** श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः*

** रजोगुण वेगशमन के लिए स्वधर्म*

गीता में 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हमारा खाना, पीना, सब कर्म ही है। परंतु गीता के कर्म शब्द से ये सारी क्रियाएं सूचित नहीं होती हैं। कर्म से वहां मतलब स्वधर्माचरण से है। स्वधर्मनिष्ठा गीता के कर्मयोग का स्वरूप है। उसमें निष्कामता की अपेक्षा है। कर्म को निष्काम बनाने के लिए स्वधर्मपालन की अत्यंत आवश्यकता है। स्वधर्म को टालकर यदि हम अन्य धर्म स्वीकार करेंगे, तो निष्कामतारूपी फल अशक्य ही है।

आत्मज्ञान और स्वधर्म—ये दो गीता के मुख्य सिद्धांत हैं। इसमें आत्मज्ञान चिंतन और अध्ययन का विषय है, जबकि स्वधर्म प्रत्यक्ष और अनुभव का विषय है।

हमें स्वधर्म को कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता। वह हमें निसर्गतः प्राप्त होता ही है। ऐसी बात नहीं है कि हम आकाश से गिरे और धरती पर संभले। हमारा जन्म होने से पहले यह समाज था, हमारे मां-बाप थे, अडोसी-पड़ोसी थे। इस प्रकार ऐसे प्रवाह में हमारा जन्म होता है। अतः जिन मां-बाप की कोख से मैं जनमा हूँ, उनकी सेवा करने का धर्म मुझे जन्मतः ही प्राप्त हो गया है और जिस समाज में मैंने जन्म लिया है, उसकी सेवा करने का धर्म भी मुझे इसी क्रम में अपने आप ही प्राप्त हो गया है। सच तो यह है कि हमारे जन्म का हेतु है। हमारा जन्म उसकी पूर्ति के लिए ही होता है। मनुष्य के जीवन में किसी-न-किसी प्रकार की प्रेरणा का प्रभाव रहता है। अब जहाँ प्रेरणा आयी, वहां हेतु आ ही गया। हमारा शरीर पैदा हुआ, उसके पीछे भी कोई हेतु रहता है। शरीर व्यक्त है, हेतु अव्यक्त। जो प्रकट है, उसे हम देखते हैं और जो प्रकट नहीं है, उसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है। प्रेरणा अव्यक्त है और वह अनुभव से जानी जाती है। वह अच्छी-बुरी दोनों प्रकार की हो सकती है। किसी को शतरंज खेलने की प्रेरणा होती है तो किसी को योगाभ्यास करने की, तो किसी को आजादी की लड़ाई में मर मिटने की। इन सबके पीछे हेतु रहता है। हेतु प्रेरणा का कारण है, उसकी माता है। उदाहरण के तौर पर, हम जमीन पर सोते हैं। कुछ कारणों से खटिया की जरूरत प्रतीत हुई और हमें खटिया बनाने की प्रेरणा हुई। जरूरत, आवश्यकता, हेतु हमेशा पहले पैदा होते हैं। जब जड़ चीज के पैदा होने का हेतु होता है तो मनुष्य, जिसमें भावना है, वासना है, वह बिना हेतु कैसे पैदा हो सकता है? हमारे जीवन का यह जो हेतु होता है, उसे गीता ने स्वधर्म कहा है। तो स्वधर्म हमारे जन्म का हेतु है और उसकी पूर्ति के लिए ही हमारा जन्म होता है।

स्वधर्म के लिए मैं माता की उपमा देता हूँ। मुझे अपनी माता का चुनाव इस जन्म में करना बाकी नहीं रहता। वह पहले ही निश्चित हो चुकी है। वह कैसी भी क्यों न हो, अब टाली नहीं जा सकती। ऐसी ही स्थिति स्वधर्म की है। इस जगत में हमारे स्वधर्म के अतिरिक्त दूसरा कोई आश्रय नहीं है। स्वर्धम को टालने की इच्छा करना, मानो 'स्व' को ही टालने जैसा

आत्मघाती प्रयास है। स्वधर्म के सहारे ही हम आगे बढ़ सकते हैं। अतः स्वधर्म का आश्रय कभी किसी को नहीं छोड़ना चाहिए—यह जीवन का एक मूलभूत सिद्धांत निश्चित होता है।

जो कर्म सहज प्रवाह से प्राप्त न हुए हों, उनके बारे में तुम्हें कितना ही लगता हो कि वे अच्छी तरह से किये जा सकते हैं, तो भी उन्हें मत करो। उतने ही कर्म करो, जितने सहजरूप से प्राप्त हों। उखाड-पछाड़ और दौड़-धूप करके दूसरे नये कर्मों का भार मत उठा लो। जो कर्म सहजप्राप्त हैं, उन्हीं के बारे में फलत्याग संभव है। यदि मनुष्य इस लोभ से कि यह कर्म भी अच्छा है और वह कर्म भी अच्छा है, चारों ओर दौड़ने लगे, तो उससे जीवन सारा बरबाद हो जायेगा। फल की आशा से ही वह इन धर्मरूपी कर्मों को करना चाहेगा और फल से भी हाथ धो बैठेगा। जीवन में कहीं स्थिरता प्राप्त नहीं होगी। चित्त पर कर्म की आसक्ति चिपक जायेगी। अगर सात्त्विक कर्मो का भी लोभ होने लगे, तो वह लोभ भी दूर करना चाहिए। इसलिए तुम वही करो, जो प्रवाह से प्राप्त तुम्हारा स्वधर्म है।

स्वधर्म कैसे तय हो ? मनुष्य को हमेशा आत्म-विचार करना चाहिए और कोऽहम् का निर्णय कर लेना चाहिए। आत्मा सहज ही अकर्ता है, सब कर्मों से अलिप्त, परिशुद्ध, साक्षीस्वरूप है। लेकिन कोऽहम् का ऐसा अत्यंत शुद्ध उत्तर बुद्धि को जंचने पर भी मनुष्य के हृदय में हमेशा अंकित ही होता है, ऐसा नहीं है। वैसा अगर अंकित हुआ, तो उसके सारे कर्म उसी क्षण टूटे बिना नहीं रहेंगे और वही विशुद्धावस्था हम सबको प्राप्त करनी है। लेकिन जब तक कोऽहम् का इतना परिशुद्ध उत्तर हृदय में अंकित नहीं होता है, तब तक मनुष्य का कर्तव्य कैसे तय होगा? इसलिए कोऽहम् का जो भी उपाधियुक्त शबल (मिश्रित) उत्तर मनुष्य के हृदय में अंकित हो, उसी के अनुसार वह आचरण करे। कोऽहम् का उत्तर लक्ष्मण के हृदय में 'मैं दशरथ का पुत्र' ऐसा नहीं, बल्कि 'राम का भाई हूँ' ऐसा था। इसलिए राम का साहचर्य उसका धर्म हुआ। मान लीजिए, उसका उत्तर 'मैं दशरथ का पुत्र हूं' होता और वह वन में जाकर दशरथ

की अनन्यभाव से सेवा करता रहता, तो उसका आचरण गलत न ठहरता ! **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज** का मैं यही अर्थ करता हूँ। मैं अपनी अंतरात्मा से पूछंगा, कोऽहम्? उसका जो सहज उत्तर मिलेगा, फिर भले ही वह सदोष भी हो, उस उत्तर की शरण में रहूँगा। और मैं मानूंगा, अनुभव करूंगा कि बाकी सर्वधर्म उसी में आ गये, बल्कि बाकी के धर्म उसमें न आते हों तो भले ही न आयें, ऐसी वृत्ति रखूंगा। यदि मैं ऐसी दृष्टि न रखूंगा तो बुद्धि के दौड़-भाग के रास्ते खतम नहीं होंगे, नाना प्रकार के कर्तव्यों का झमेला बढ़ेगा, कोई एक भी ठीक से पूरा नहीं हो पायेगा, जीवन में धांधली मच जायेगी और रास्ता छूट जायेगा।

तो, स्वधर्म को जानने के लिए अपने चित्त की भावनाओं को, वासनाओं को पहचानना और उसके आधार पर अन्यों से व्यवहार करना। मुझे भूख लगती है और उसका मैं अनुभव करता हूँ तो मेरा स्वधर्म है कि मैं भूखों को खिलाऊं। इसके अलावा, भोजन के लिए अन्न चाहिए तो उसको उत्पन्न करने में भी मुझे भाग लेना चाहिए। तदुपरांत भूख का हेतु भी जानना चाहिए और उसी हेतु के लिए खाना चाहिए, स्वाद आदि के लिए नहीं। समाज की सेवा के लिए शरीर मिला है। भोजन के बिना शरीर की रक्षा नहीं हो सकती, इसलिए भोजन करना है, तो संयम भी मेरा धर्म होता है। इस प्रकार अपनी भावनाओं को पहचानना, उनका हेतु समझना और हेतु समझकर सद्-असद्-वृत्तियों का विकास तथा नियमन और निरोध करना स्वधर्म के क्षेत्र में आता है। सद्-असद् वृत्तियां काम करती हैं। किसी में सत्त्व, किसी में रज और किसी में तम की प्रधानता रहती है। भिन्न-भिन्न वृत्तिवाले लोगों का धर्म भी भिन्न-भिन्न रहेगा। तो, हमें सत्त्व का विकास करना है, रज का नियमन करना है और तम का निरोध करना है।

स्वधर्म का निर्णय करते समय मनुष्य को अपनी शक्ति, वृत्ति, शिक्षण तथा उसके अनुसार समाज की उसके प्रति किस प्रकार की सेवा की अपेक्षा है—यह सब देखना पड़ता है। धर्म व्यापक है, स्वधर्म व्यापक होकर भी विशिष्ट है। सृष्टि के बीच हमारा जो प्रवाह है, उस

प्रवाह के अनुकूल बरतना हमारा स्वधर्म है। हमें उस प्रवाह का विरोध नहीं करना है। स्वधर्म का लक्षण ही है, प्रवाहपतितता। जिस कार्य को करने में हमें अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है, प्रवाह के विपरीत जाना पड़ता है, वह हमारा स्वधर्म नहीं है।

स्वधर्म शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक तात्त्विक और दूसरा नैतिक। तात्त्विक अर्थ में हर वस्तु स्वधर्म पर ही खड़ी है। उसके बाहर जा नहीं सकती। मनुष्य, मनुष्य ही रहेगा, वह न गधा हो सकता है, न पक्षी, न मछली। चाहे वह पनडुब्बी में बैठकर पानी के भीतर दौड़ लगाये या विमान में बैठकर हवा में उड़े—उसे मछली या पक्षी का अनुभव नहीं आ सकता। हाँ, नैतिक अर्थ में उसे स्वधर्म पालन की कई अंशों में स्वतंत्रता है। जैसे किसी बैल को लंबी रस्सी लेकर एक खूंटे से बांध देते हैं। वह रस्सी की लंबाई के बाहर नहीं जा सकता। किंतु उसके भीतर स्वतंत्र है। वैसे मनुष्य अपने परिमित क्षेत्र की सीमा में स्वतंत्र है। उस स्वतंत्रता का वह सदुपयोग भी कर सकता है और अच्छा या बुरा भी बन सकता है।

गीता का स्वधर्म क्या है? हिंदू, इस्लाम, ख्रिस्ती या इसी प्रकार का कोई धर्म गीता के सामने नहीं है। गीता का स्वधर्म शब्द इतना व्यापक है कि वह सब पर लागू होता है। कुलधर्म, समाजधर्म, युगधर्म आदि अनेक व्यापक धर्म है। वे सब गीता के 'सर्वधर्म' में आ जाते हैं। अलग-अलग मनुष्यों का स्वधर्म अलग-अलग हो सकता है। व्यक्ति का धर्म भी काल के अनुसार तथा वृत्ति-विकास के अनुसार बदलता रहता है। गीता कहती है कि जिसको जिस समय जो धर्म मिला है, वह उसका स्वधर्म है और उसी का पालन करना श्रेयस्कर है। जो कुर्ता मेरे नाप का है, वह मेरे लिए उपयोगी और सुखदायी है – चाहे वह मोटे और सादे कपड़े का ही क्यों न हो। इसी अर्थ में गीता कहती है कि अपना स्वधर्म फीका लगे तो भी वह हमारे लिए श्रेयस्कर है। इसका अर्थ यह है कि मेरे धर्म की उपयोगिता इस पर निर्भर नहीं है कि वह दुनियाभर के धर्मों से श्रेष्ठ हो। मेरा स्वधर्म मेरे लिए श्रेष्ठ है, क्योंकि मेरे लिए वही है। सबके अपने भिन्न-भिन्न स्वधर्म

हैं। इसमें किसी का स्वधर्म ऊँचा या किसी का नीचा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऊँच-नीच भाव अभिमान के कारण आता है। वह भाव जिसको छूता है, उसका विनाश कर देता है। मनुष्य का क्षेत्र छोटा हो या बड़ा हो, परिमित हो या व्यापक हो, उससे सेवा कम या अधिक मानने की जरूरत नहीं। वर्तुल चाहे छोटा हो या बड़ा हो, वह वर्तुल ही है। सेवक का बड़ा या छोटा होना, उसकी सेवा की गहराई से ही निश्चित किया जायेगा। दस मील लंबी-चौड़ी जगह में एक इंच पानी भरा है और दस फीट के कुएं में पांच फीट पानी भरा है, तो कौन उपयोगी है? स्वधर्मपालन में तपस्या, निष्ठा, प्रखरता का महत्त्व है। इसी में गहराई है। क्षेत्र बढ़ाने से गहराई नहीं बढ़ती। स्वधर्म में नीचे-ऊंचे का सवाल नहीं है। हरएक को अपने-अपने मार्ग से आगे बढ़ना है। व्यापारी का अपना स्वधर्म होता है, शिक्षक का अपना स्वधर्म होता है। अपने धर्म के लिए श्रेष्ठ-कनिष्ठ का सवाल नहीं है। सवाल यह है कि कौन-सा धर्म किसके लिए ठीक है। हम अपने लिए अनुकूल धर्म देखें, जो हमारी वासनाओं को कम करेगा। मुझे अपने धर्म का पालन करना है। इसमें कोई संकुचित भान नहीं। न किसी प्रकार की तुलना की आवश्यकता है। एक दुर्बल बच्चा है। उसका स्वधर्म है, संयम तथा पौष्टिक भोजन से अपने शरीर को मजबूत बनाना। एक संन्यासी है। उसका धर्म है अपने शरीर की परवाह न करके समाज के लिए उसे क्षीण कर देना। इन दो भिन्न धर्मों की तुलना नहीं हो सकती है। स्वधर्म में श्रेणियां होती हैं। बच्चे का स्वधर्म है कि गुरु के घर जाकर विद्या प्राप्त की जाये। गृहस्थ का स्वधर्म दूसरा है, वानप्रस्थी का स्वधर्म उससे भिन्न है और संन्यासी का स्वधर्म सबसे भिन्न है।

एक सर्वसामान्य धर्म होता है। जैसे अहिंसा, सत्य, प्रेम आदि। इसके अलावा गृहस्थधर्म, वानप्रस्थधर्म, आश्रमधर्म आदि धर्म होते हैं। सब वर्णों के लिए और सब आश्रमों के लिए एक समान धर्म होता है। जिसके आधार के बिना कोई धर्म खड़ा नहीं हो सकता, उसे नीतिधर्म कहा जाता है। वह धर्म सबके लिए लागू होता है। उसके अलावा हरएक के लिए एक विशेष धर्म होता है। उसकी तुलना दूसरे के धर्म के साथ नहीं करनी चाहिए।

स्वधर्म में स्वदेशीधर्म, स्वजातीयधर्म और स्वकालीनधर्म का समावेश होता है। ये तीनों मिलकर स्वधर्म बनता है। मेरी वृत्ति के अनुकूल और अनुरूप क्या है और कौन-सा कर्तव्य मुझे प्राप्त हुआ है, यह सब स्वधर्म निश्चित करते समय देखना होता है। तुममें 'तुमपन' जैसी कोई चीज है और इसलिए तुम 'तुम' हो। प्रत्येक व्यक्ति में उसकी अपनी कुछ विशेषता होती है। बकरी का विकास बकरी बने रहने में है। अगर वह गाय बनना चाहे तो वह उसके लिए संभव नहीं। इस जन्म में तो उसके लिए बकरीपन ही पवित्र है। दूसरे के रूप की नकल करना उचित नहीं होता, इसलिए परधर्म को भयावह कहा है।

फिर स्वधर्म के भी दो भाग हैं। एक बदलनेवाला भाग, दूसरा न बदलनेवाला भाग। मैं जो आज हूँ, वह कल नहीं और जो कल हूँ, वह परसों नहीं। मैं निरंतर बदल रहा हूँ। दस वर्ष पहले मेरा जो धर्म था, वह आज नहीं है। आज का धर्म दस वर्ष के बाद टिकेगा नहीं। चिंतन और अनुभव से जैसे-जैसे वृत्तियां बदलती जाती हैं, वैसे-वैसे पहले का धर्म छूटता जाता है और नवीन धर्म प्राप्त होता जाता है। बचपन का धर्म होता है, केवल संवर्धन। यौवन में मुझमें भरपूर कर्म-शक्ति रहेगी तो उसके द्वारा मैं समाज की सेवा करूंगा। प्रौढ़ावस्था में मेरे ज्ञान का लाभ दूसरों को मिलेगा। इस तरह कुछ स्वधर्म तो बदलता रहनेवाला है और कुछ न बदलनेवाला। इन्हीं को यदि पुराने शास्त्रीय नामों से पुकारना है, तो हम कहेंगे – 'मनुष्य का धर्म वर्णधर्म और आश्रमधर्म है।' वर्णधर्म नहीं बदलता, आश्रमधर्म बदलता रहता है। बदलनेवाला स्वधर्म बदलते रहना चाहिए। उससे प्रकृति शुद्ध रहेगी। प्रकृति बहती रहनी चाहिए। निर्झर बहता न रहे तो उसमें से दुर्गंध आने लगेगी। बदलनेवाले धर्म को आसक्ति के कारण न छोड़ें, तो भयानक स्थिति उत्पन्न होगी।

गीता कहती है, **श्रेयान् स्वधर्मो विगुण परधर्मात् स्वनुष्ठितात्** (गी.3.35)। साधक के लिए कर्मयोगनिष्ठा स्वधर्म है और ज्ञानी की ज्ञाननिष्ठा परधर्म। साधक के लिए कर्मयोगनिष्ठा

श्रेष्ठ है। यदि साधक अपनी कर्मनिष्ठा छोड़कर ज्ञानी की ज्ञाननिष्ठा का अनुसरण करने जाता है तो वह उसके लिए भयावह बात होगी। साधक में यदि ज्ञान नहीं है और वह ज्ञानवान होने का नाटक शुरू कर दे तो उससे बड़ी हानि होगी। ज्ञानी की ज्ञाननिष्ठा की तुलना में, साधक की कर्मयोगनिष्ठा विगुण है। परंतु साधक के लिए वही परमधर्म है। प्रार्थना में बैठते ही ज्ञानी की समाधि लग जाती है, और साधक का मन इधर-उधर दौड़ता है। समाधि की अवस्था की तुलना में वह अवस्था विगुण है। किन्तु वही साधक के प्रयत्न और पुरुषार्थ का क्षेत्र है। विगुण होने पर भी साधक के लिए वही सही है। स्वधर्म विगुण हो तो उसका पालन श्रेयस्कर है। स्वधर्म श्रेष्ठ है या गौण, यह विचार गलत है। वह मेरे नाप का है या नहीं, यही देखना चाहिए। स्वधर्म गौण है, यह समझकर उसे छोड़ा नहीं जा सकता और परधर्म श्रेष्ठ है, यह समझकर उसे कबूल नहीं किया जा सकता। हमारे कर्म का मूल्य कम हो तो भी स्वधर्म के नाते हम उसे छोड़ नहीं सकते, न छोड़ना चाहिए। दूसरे का धर्म भले ही श्रेष्ठ मालूम हो, उसे ग्रहण करने में मेरा कल्याण नहीं है। मछली से यदि कोई कहे कि 'पानी से दूध कीमती है, तुम दूध में रहो' तो क्या मछली उसे मंजूर करेगी? मछली तो पानी में ही जी सकती है, दूध में मर जायेगी।

जो स्वधर्म का निष्ठा से आचरण करेगा, उसे स्वभावतः ही दूसरे धर्मों के लिए आदर रहेगा। जिसे दूसरों के धर्म के लिए अनादर हो, उसके बारे में समझना चाहिए कि वह स्वधर्म का आचरण नहीं करता।

चित्त कितना शुद्ध हुआ, इसी में स्वधर्माचरण की कसौटी है। स्वधर्माचरण के साथ आत्मचिंतन होना ही चाहिए। तभी अंदर की वासना खतम होगी, अन्यथा नहीं। सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणों में से रजोगुण का प्रधान लक्षण है – नाना प्रकार के काम करने की लालसा, प्रचंड कर्म करने की अपार आसक्ति। रजोगुण के कारण अपरंपार कर्मसंग चिपकता है। लोभात्मक कर्मासक्ति उत्पन्न होती है। फिर वासना, विकारों का वेग काबू में नहीं रह पाता।

रजोगुण की सारी प्रवृत्ति चंचल और अनिश्चित रहती है। उसके कारण मनुष्य में स्थिरता नहीं रहती। रजोगुण के प्रभाव से मनुष्य विविध धंधों, कार्यों में टांग अड़ाता रहता है। वह स्वधर्म में नहीं रहता। मनुष्य के मन तथा इंद्रियों में वेग होता है, वह रजोगुण का परिणाम है। अगर इस वेग का शमन न हुआ तो उसके परिणामस्वरूप मानसिक क्षोभ पैदा होता है। इसलिए इंद्रियों के स्वभाविक वेग का शमन होना जरूरी है। मनुष्य यदि अपनी सारी शक्ति विविध उद्योगों में न लगाकर, उसे एकत्रित करके एक ही कार्य में सुव्यवस्थित रूप से लगाये, तभी उसके हाथ से कुछ कार्य हो सकेगा। वह स्वधर्म से होता है। स्वधर्मरूपी मार्ग का अवलंबन करने से एक राह मिल जाती है और इंद्रियों के वेग का शमन सहज ही हो जाता है। जब हम स्वधर्म में मग्न रहते हैं, तो रजोगुण फीका पड़ जाता है, क्योंकि तब चित्त एकाग्र होता है और वह स्वधर्म छोड़कर कहीं जाता ही नहीं। इससे चंचल रजोगुण का सारा जोर ही ढीला पड़ जाता है। नदी जब शांत और गहरी होती है, तो कितना ही पानी उसमें बढ जाये, वह उसे अपने पेट में समा लेती है। इसी तरह स्वधर्मरूपी नदी मनुष्य का सारा बल, सारा वेग, सारी शक्ति अपने भीतर समा ले सकती है। स्वधर्म में आप शक्ति-सर्वस्व लगा देंगे, तो फिर रजोगुण की दौड़ धूपवाली वृत्ति समाप्त हो जायेगी। मानो चंचलता का डंक ही कुचल दिया।

7. शरीरश्रम

** शक्तिशाली अहिंसा के प्राकट्य के लिए शरीरश्रम*

** ब्रेड लेबर यानी पसीने की रोटी*

** शरीरश्रम, आध्यात्मिक उन्नति के लिए अनिवार्य*

** भावी जगत की नैतिक, आर्थिक, सामाजिक विचारों की बुनियाद, शरीरश्रम*

** श्रम से श्री का निर्माण*

** पसीने के बूंद से खिले सुंदर फूल*

मनुष्य जाति की जीविका का निसर्ग-निर्मित साधन केवल शरीर श्रम ही है। शरीरश्रम से ही यात्रा चलाने के एक नियम से सभी व्रतों का पालन करना आसान होता है। शरीरश्रम से यदि मन ऊबता है तो वह अधोगति का लक्षण है। शरीरिक श्रम का तत्त्व समाप्त होने के कारण समाज में कृत्रिम भेद पैदा होते हैं। हमें शरीरश्रम से ही रोटी कमाने का व्रत लेना चाहिए और पैसे से मुक्त होना चाहिए। उसके बगैर शक्तिशाली अहिंसा प्रकट नहीं होगी।

जब लोगों का आलस उड़ जायेगा, नित कुछ-न-कुछ निर्माण करने में वे हिस्सा लेंगे, तब दूसरों का मत्सर, दूसरों का द्वेष, बिना कुछ किये खाने की वृत्ति, ये सब दुर्गुण नष्ट होंगे। ये ही दुर्गुण हैं, जिनकी वजह से हिंसा आयी है। इन दुर्गुणों के दूर होने से हिंसा कैसे दूर होगी? जैसे सूरज के आगमन से अंधेरा दूर होता है, वैसे। उसे दूर करने के लिए फिर और कुछ नहीं करना होगा। अगर हम शरीरश्रम का व्रत ले लें, तो आप निश्चित समझिए, इस छोटे-से व्रत के सामने दुनिया की सारी अशांति हारे बिना नहीं रहेगी, वह टिक नहीं सकेगी। शक्तिशाली अहिंसा तो तब तक प्रकट ही नहीं होगी, जब तक शरीरश्रम से रोटी कमाने का व्रत नहीं लेते।

हमें एक नया समाज बनाना है। उस समाज के लिए आचरण का एक बड़ा सूत्र यह है कि हर किसी को अपने शरीर के आहार के लिए शरीरश्रम करना चाहिए। दूसरे-तीसरे बौद्धिक काम करके शरीर को खिलाना उत्तम धर्म नहीं है। बौद्धिक काम करके रोटी हासिल की गयी हो, तो भी वह उत्तम कार्य नहीं है। शरीर का पोषण शरीरश्रम से ही करना चाहिए। इसी को 'ब्रेडलेबर' कहते हैं। भगवद्गीता ने इसी को 'यज्ञ' नाम दिया है। उसी का जिक्र ईसा ने किया है कि अपने पसीने से जो रोटी कमाता है, वह 'ब्रेड लेबर' है। अपने शरीर की आजीविका शरीरश्रम से प्राप्त करना धर्म है और हम वैसा नहीं करते हैं तो दूसरों के कंधे पर बैठते हैं और हिंसा से मुक्त नहीं हो सकते हैं। आज मनुष्य ने श्रम का स्थान 'पैसे' को और 'प्रेम' का स्थान संघर्ष को दिया है। तो आज पैसा और संघर्ष दोनों बातें दुनिया को सता रही हैं। हमारी इच्छा है कि सारे जगत में बंधुभाव रहे, प्रेम फैले और अहिंसा का राज्य हो। वह इच्छा तब तक पूरी नहीं हो सकती, जब तक हममें से हर एक सक्षम व्यक्ति श्रम करने न लग जाये। जो अपने जीवन में अबाधरूप से अहिंसा का पालन और सत्य की उपासना चाहता है, उसके लिए शरीरश्रम का व्रत रामबाण उपासना है।

अनुभव यही बताता है कि शरीरश्रम विकारों का शमन करता है और चंचलता को मिटाता है। शरीरश्रम के बारे में मेरा अनुभव है कि वह आध्यात्मिक उन्नति के लिए उतना ही अनिवार्य है, बल्कि ज्यादा अनिवार्य है, जितना कि ऐहिक उन्नति के लिए।

मेरी यह पक्की राय है कि भावी जगत के धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक विचारों की बुनियाद शरीरश्रम का व्रत ही हो सकता है। मैं केवल 'शरीरश्रम' नहीं कह रहा हूँ, 'शरीरश्रम व्रत' कह रहा हूँ। दुनिया में आज भी सर्वसाधारण जनता प्रायः शरीरश्रम करती ही है। लेकिन वह स्वेच्छा से नहीं, विचार से नहीं, मजबूरी से करती है। गांव के लोगों में श्रमनिष्ठा तो है—यह कहना ठीक नहीं है। गांव के लोगों को श्रम करना पड़ता है, इसलिए वे करते हैं,

लेकिन उनमें निष्ठा नहीं है। यह लाचारी है। निष्ठा में तेजस्विता होती है। श्रमनिष्ठ पुरुष किसी का शोषण नहीं करेगा और दूसरों को अपना शोषण करने भी नहीं देगा। शोषण मिटाने के लिए व्यापक और सर्वांगीण स्वावलंबन चाहिए, जो श्रमनिष्ठा से ही बन सकता है।

गांधीजी कर्मयोगी थे। उनके कर्मयोग को भक्ति और अद्वैत का रूप प्राप्त था। कर्मयोग के दो अंग हैं – सेवा और उत्पादन। इसमें सेवा के विचार का प्रचार रामकृष्ण संप्रदाय ने खूब किया। गांधीजी ने दूसरे अंग को देश के कोने-कोने में पहुंचाया। जैसे मजदूर लोग शरीरश्रम का काम करते हैं, वैसे हरएक को करना चाहिए – कर्मयोग का यह बहुत बड़ा विचार गांधीजी ने चलाया। उत्पादक परिश्रम लगभग सभी करते हैं, लेकिन लाचारी से करते हैं। हमें वह स्वेच्छा से और ज्ञानप्राप्ति की इच्छा से करना चाहिए।

जैसे बिना परिश्रम किये खाना पाप है, वैसे ही अपने खुद के श्रम से खाना दूसरा पाप है। हमने जो कुछ भी श्रम किया हो, उसे समाज को समर्पण करें और फिर समाज से जो मिले, वह खायें। यदि अपने परिश्रम से खाने की बात रखेंगे, तो उस पर हमारा हक चिपका रहेगा। हमारी वासना बनी रहेगी।

जब तक शरीरश्रम को नैतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रतिष्ठा नहीं देते, तब तक ग्रामीण जीवन उपेक्षित रहेगा। आज जो शख्स जितना उपयुक्त परिश्रम करता है, उतना नीच माना जाता है। भारत में हमने शरीरश्रम को सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं दी, यह एक बहुत बड़ा पाप किया है।

आर्थिक प्रतिष्ठा की बात लीजिए। शरीरश्रम को एक घंटे के लिए जो मजदूरी दी जाती है, उससे मानसिक श्रम के लिए प्रतिघंटा कई गुना ज्यादा मजदूरी दी जाती है। इस तरह हमने परिश्रम की आर्थिक प्रतिष्ठा भी कम कर दी है।

फिर क्या शरीरश्रम को कोई नैतिक प्रतिष्ठा दी है? तालीम के कुल-के-कुल फायदे उन लोगों को मिलते हैं, जो शरीरश्रम नहीं करते। जिन्हें नित्य शरीरश्रम करना पड़ता है, उन्हें शिक्षण-संस्कार ही नहीं दिया गया है। इस हालत में शरीरश्रम की नैतिक प्रतिष्ठा क्या रहेगी?

शरीरश्रम को हम नहीं अपनायेंगे, तो उत्पादक और अनुत्पादक वर्ग बने रहने का खतरा है। इसलिए शरीरश्रम एक धार्मिक कर्तव्य है, यह मानकर उसे जीवन में स्थान देना चाहिए। श्रम किये बिना खाने का अधिकार नहीं है, यह मान्यता व्यापक बननी चाहिए।

आज बौद्धिक परिश्रम और शारीरिक परिश्रम दोनों अलग-अलग माने जाते हैं और उनमें ऊंच-नीच का भाव आ गया है। यह सब बाधक है। मानसिक-बौद्धिक श्रम की प्रतिष्ठा ज्यादा न मानी जाये, उसका मुआवजा ज्यादा न माना जाये। ऐसा होने से सामाजिक विषमता दूर होगी। शरीरश्रम और बौद्धिकश्रम, दोनों की जरूरत है और दोनों की प्रतिष्ठा समान है।

मनुष्य चाहता है कि परिश्रम न करना पड़े और जीवन चले। यह इच्छा सभी दुःखों की जननी है। रवींद्रनाथ एक कविता में कहते हैं कि जिंदगी परिश्रम से भरी हुई है, यह गर्व की बात है। कष्टमय जीवन गौरव की बात है। काम को 'डिग्निटी ऑफ लेबर' कहते हैं। जो लोग श्रम को तपस्या समझते हैं, लक्ष्मी पाने और भगवान की उपासना का साधन मानते हैं, उनके श्रम से होनेवाले कष्ट का दिव्य रूपांतर होता है। उसमें से नित्यनूतन सृष्टि उत्पन्न होती है। जहां आदर्शवाद नहीं रहता, वहाँ परिश्रम तप ही होता है। जिन्हें भान है कि श्रम से श्री का निर्माण होता है, वे उसे तपस्या का साधन समझते हैं। लक्ष्मी विष्णु की सहचरी है, वह भगवान के स्पर्श से विकसित होती है। उसे चेतन का स्पर्श चाहिए, शरीरश्रम चाहिए। उसकी उपासना जहाँ चलती है, वहीं नयी सृष्टि पैदा होती है।

रामायण में एक जगह श्रम की महिमा बड़े सुंदर तरीके से बतायी गयी है। शबरी के आश्रम में प्रभु रामचंद्र आये हैं। आश्रम के पास कभी न सूखनेवाले सुंदर सुगंधित फूल खिले

हैं। रामजी ने पूछा, ये फूल कौन-से हैं? किसने लगाये ? शबरी बोली, एक दिन मातंग ऋषि आश्रम के बच्चों को लेकर जंगल से लकड़ी लाने गये थे। वे पसीने से लथपथ वापस आये। उनके सिर पर लकड़ी का गट्ठर था और शरीर से पसीना टपक रहा था। दूसरे दिन सुबह देखते हैं तो जहाँ-जहाँ उनके पसीने की बूंदें गिरी थीं, वहां-वहां फूल खिले हैं। श्रम की महत्ता का इतनी भव्यता और सहृदयता से वर्णन विश्व के साहित्य में अन्यत्र कहीं शायद ही हो ! वे फूल मानो भूमाता के स्निग्ध चक्षु ही थे। अपने बच्चों के धर्मासक्त चेहरे देखने के लिए करुणा से भूमाता ने मानो अपने नैन ही खोल दिये हों।

•

8. सेवा

** मानवदेह सेवायंत्र है*

** सेवा, समाज के उपकार से ऋणमुक्त होना*

** सेवा व्यक्ति की, भक्ति समाज की*

** आत्मसाधना और सेवा, बिंब-प्रतिबिंब*

** चित्तशुद्धि और सेवा*

** सेवा का आकार नहीं, भावशुद्धि देखें*

** आत्मदर्शन की छटपटाहट-सर्वोत्तम सेवा*

** सेवा का उद्देश्य, वासनाक्षय*

** सेवा, भगवदार्पण*

** व्यक्ति और समाज की आत्मा की सेवा करें*

** जनसेवा और अद्वैत*

** सेवाक्षेत्र में गांधीजी का योगदान*

** सेवा और सत्ता*

** निरहंकार सेवा*

** निष्काम सेवा*

** सेवक के गुण*

मानवदेह, सेवायंत्र

मानवदेह का प्रयोजन क्या? उसका मेरे पास एक ही उत्तर है, सेवा। देह प्रभु का बनाया एक उत्तम यंत्र है, जो सेवा की क्षमता रखता है। मानवदेह सेवा-यंत्र है, देह न होती तो सेवा नहीं हो सकती थी। यह देह सेवा का साधन है। सेवा अगर प्रयोजन न हो तो इस देह की कीमत टूटे घड़े के समान होती। भगवान ने हमें सेवा के लिए दो हाथ दिये हैं। इन हाथों से हम मनुष्य की, गाय की, प्राणियों की, वृक्षों की, धरती की सेवा करें। इस नर जन्म में आकर हम सेवा करें और लोगों को सुख पहुंचायें। मन में सेवाभाव है, पर शरीर टस से मस नहीं हो रहा। आलस्य में पड़ा है। उसका क्या उपयोग? ज्ञानेश्वर ने सुंदर वर्णन किया है। सेवा करनेवाला कैसा होना चाहिए? मन में सेवा का भाव आते ही तुरंत सेवा कार्य में कूद पड़े, सेवा करनेवाला ऐसा होना चाहिए।

समाजऋण से मुक्त होना

हम कितनी ही सेवा क्यों न करें, बचपन से समाज ने हमारी जो सेवा की है, उसकी तुलना करने पर उसका हम पर ऋण ही रहेगा। यानी समाज ने हम पर जो उपकार किये हैं, उसका ऋण चुकाते-चुकाते भी शेष रह ही जाता है। आखिर उसकी क्षमा मांगकर ही हम उसके उपकारों से मुक्त हो सकते हैं। जिन-जिन के अपने ऊपर उपकार हुए हैं, उन सबके संबंध में देवभाव रखकर उनकी सेवा करना और उनके ऋण से अंशमात्र ही क्यों न हो, मुक्त होने का प्रयत्न करना हमारा धर्म है। मातृदेव, पितृदेव, आचार्यदेव, ये तीन देव माने गये हैं, क्योंकि हमारे ऊपर उनके अनंत उपकार हैं। अनंतरूपों से समाज के भी हमारे पर महान उपकार हैं। इसलिए समाज को देवरूप मानकर उसकी भी सेवा करना हमारा सहजधर्म है। दीन, दुःखी, पीड़ित, रोगी इत्यादि की सेवा करना समाज-पूजा का ही अंग है। आपसे सेवा लेने के लिए ही मानवरूप में परमात्मा सामने खड़ा है।

हम जनसेवा, समाजसेवा, राष्ट्रसेवा आदि शब्दों का नित्य प्रयोग करते रहते हैं, परंतु सही शब्द परमेश्वर-सेवा ही है। जो भी सेवा करनी है, वह परमेश्वर की ही करनी है, यह भावना हमें निरंतर जाग्रत रखनी है। जब हम मानवसेवा करते हैं, तब हमारी भावना यह नहीं होनी चाहिए कि हम समाजसेवा कर रहे हैं, परंतु परमेश्वर-सेवा की भावना होनी चाहिए। वैसा नहीं होगा तो भिन्न-भिन्न सेवाओं में से झगड़े पैदा होंगे, मानसिकता संकुचित होगी, अलग-अलग गुट बनेंगे, हृदयप्रवेश की प्रक्रिया रुक जायेगी और सिर्फ बाहर से, स्थूलरूप से कुछ करा देने का काम ही बाकी रहेगा। कोई एक हिस्सा पीड़ित है इसलिए उसकी सेवा हमने हाथ में ले ली, बाकी हम हैं विश्व के और विश्वेश्वर के ही सेवक। यही हमारी भूमिका होनी चाहिए।

केवल व्यक्तिगत स्वार्थी जीवन की अपेक्षा जनसेवा के जीवन में भले ही चिंतन की लंबाई-चौड़ाई बढ़ जाये, लेकिन गहराई भी बढ़ेगी ही, ऐसी बात नहीं। इसलिए हाथ-पैरों को जनसेवा में लगाये रखते हुए चित्त को हरि में लगाना ही श्रेयस्कर है। कोई भी सेवा हरिभावना से भरी होगी, तभी वह 'हरिसेवा' सिद्ध होगी।

सेवा व्यक्ति की, भक्ति समाज की

मैंने एक सूत्र बना लिया है, 'सेवा व्यक्ति की, भक्ति समाज की'। व्यक्ति की भक्ति में आसक्ति बढ़ती है, इसलिए भक्ति समाज की करनी चाहिए। सेवा समाज की करना चाहें, तो कुछ भी नहीं कर सकते।

प्रत्यक्ष सेवा हम अपनी ताकत के अनुसार कुछ व्यक्तियों की ही कर सकते हैं। वह करते समय विश्वहित से अविरोध और वृत्ति में सर्वभूतानुकूल हो, तो हमारा कर्तव्य पूरा होता है। अन्यथा विश्वरूप के पीछे लगा हुआ मनुष्य परेशानी उठाने के अलावा और कुछ नहीं कर सकेगा। इसलिए मानवसेवा के माने हैं, निकटवर्तियों की विश्वहित से अविरोधी सेवा।

आजकल सेवा के लिए हम विशाल क्षेत्र चाहते हैं। परंतु अगर असली सेवा करनी है, सेवामय बन जाना है, अपने को सेवा में खपा देना है, तो छोटा क्षेत्र चुनिए। वहां हम लंबा-चौड़ा

नहीं, पर ऊँचा सफर कर सकते हैं। ऊंची या गहरी सेवा वहाँ खूब हो सकती है। सेवा का बाहरी विस्तार सीमित रहे, काबू में रहे, काबू से कुछ कम ही रहे और गहराई बढ़े। 'बहुत' सेवा की अपेक्षा 'उत्तम' सेवा की दृष्टि रखें।

मानव का शरीर मर्यादित शक्तिवाला होने के कारण सेवा मर्यादित ही की जा सकती है। परंतु वृत्ति मर्यादित नहीं रखनी चाहिए। कोई मेरे कर्तव्यक्षेत्र के बाहर भले ही हो, पर अगर वह सहानुभूति और विचार के क्षेत्र के बाहर हो जाता है, तो मैं अपार शक्ति खोता हूँ। चाहे सेवा का क्षेत्र मर्यादित ही क्यों न हो, पर भावना और सहानुभूति का क्षेत्र मर्यादित नहीं होना चाहिए।

हर रोज सोने के पहले अपने दिल से पूछें कि अपनी देह के लिए तो मैंने सबकुछ किया, लेकिन दूसरे के लिए क्या किया? कोई बीमार था तो उसको दवा दी है? कहीं गंदगी पड़ी थी तो उसको साफ किया? मेरी देह और मेरा घर छोड़कर गांव के लिए मैंने अगर कुछ किया नहीं है, तो समझना चाहिए कि मेरा आज का दिन बरबाद हुआ। मैं व्यर्थ जीया। भगवान ने हरएक को प्राण दिया है तो सब खाते हैं और जीते हैं। लेकिन दूसरे के लिए जीना, दूसरे की सेवा करना, इसमें जो समाधान मानव को मिलता है, वह दूसरी किसी चीज में नहीं मिलता।

आत्मसाधना और सेवा

सेवक को चाहिए कि वह बाह्य सेवाकार्य करते हुए अपनी अंतरवृत्ति में जो विशिष्ट कमी होगी, उसकी पूर्ति करने की गरज को कभी नजरअंदाज न करें। उसका बाह्य सेवाकर्म इस आंतरिक गरज की साधना होनी चाहिए। यह जिसको सधा, उसको साधक कहेंगे।

आत्मसाधना अंदर की वस्तु है, सेवा उसका बाह्य रूप है। दोनों बिंब-प्रतिबिंबरूप होने चाहिए। आत्मनिष्ठा प्राप्त किये बिना मनुष्य सेवा करेगा तो वह सेवा नहीं होगी, अ-सेवा होगी। सेवा के अंत में आत्मज्ञान होगा, लेकिन आरंभ में आत्मनिष्ठा होगी।

जिन्होंने समाज पर चिरकाल तक टिकनेवाले संस्कार गढ़ने का काम किया, उनके बाह्य कर्म का आकार अगर हम देखने जायेंगे, तो वह बहुत ही छोटा दीखेगा। शुद्धचित्त पुरुष

की अल्पतम हलचल से भी जो कार्य होगा, वह औरों के शत जन्म लेने से भी नहीं होगा। ईसा मसीह का सार्वजनिक जीवन दो-तीन ही साल का रहा। परंतु उतने में ही उन्होंने प्रचंड कार्य किया।

हम सब एक-दूसरे की सेवा निष्काम भाव से करें और निःसंकोच सेवा लें, तो उससे बढ़कर साधना ही नहीं। हम दूसरों की सेवा का स्वीकार आनंदपूर्वक नहीं करेंगे, तो दूसरे भी हमारी सेवा का स्वीकार आनंदपूर्वक क्यों करें? जैसे बिना कारण सेवा लेना गलत है, वैसे बिना कारण सेवा करना भी गलत है। और सकारण सेवा करने में आनंद और पुण्य है, तो सकारण सेवा लेने में भी आनंद और पुण्य है। कृतज्ञतापूर्वक सेवा लेने में भी मनुष्य के हृदय का विकास होता है। वह पुण्यकार्य ही है।

साधना के नाम से साधना करने के बदले उसे सेवा में से सहज साधने की वृत्ति सध जाये तो अहंकार चिपकेगा नहीं और वही असली साधना होगी।

हम खाते हैं, देह के लिए कुछ देना पड़ता है तो प्रायश्चित्त के तौर पर समाज की सेवा करनी पड़ती है। समाज की कुछ सेवा करना आवश्यक है। देखा जाये तो जन्म से लेकर मरने तक मनुष्य समाज की जितनी सेवा लेता है, उतनी सेवा देना उसके लिए संभव नहीं है लेकिन देने की कोशिश करनी चाहिए और वह करते हुए, मुख्य ध्यान इस बात पर होना चाहिए कि आत्म-साक्षात्कार में हम कितने कामयाब हुए, वृत्तियां कितनी शांत हुईं।

चित्तशुद्धि और सेवा

सेवक को चाहिए कि वह जनसेवा के साथ अपनी चित्तशुद्धि करता रहे। परोपकार या लोकसेवा उसके परिमाण पर नहीं, हृदय की शुद्धि और सच्चे प्रेमभाव पर निर्भर होती है। इसलिए आखिर कहना पड़ता है कि चित्तशुद्धि करना ही सही सार्वजनिक सेवा करना है।

चित्तशुद्धि न हो या उसके लिए प्रयत्न भी न करके अगर हम सार्वजनिक कार्य का स्वांग भरें तो उससे द्वेष पैदा होता है, अहंकार बढ़ता है, मतभेद होते हैं। इसलिए मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूँ कि सार्वजनिक सेवा में अपना समय लगाना चाहिए, शक्ति लगानी चाहिए, परंतु इतने भर से काम बनता नहीं। उसके लिए हमारी निरंतर चित्तशुद्धि होती रहनी चाहिए। ऐसा कोई इक्का-दुक्का कार्यकर्ता ही जितना काम कर लेगा, उतना काम किसी बड़ी संस्था की ओर से भी नहीं हो सकेगा। जनता को जीवन देने का काम जीवन-शुद्ध मनुष्य जितना कर पायेगा, उतना संस्था नहीं कर पायेगी।

आजकल एक विचार व्यक्त होता है कि अपने खुद के मोक्ष का ध्येय सामने रखने के बदले समाज की सेवा का ध्येय ही क्यों न रखें? यह भी कहा जाता है कि सेवा से अलग कोई मोक्ष नहीं है। वास्तव में मोक्ष के लिए अहंकार का पूर्ण लोप हो जाना चाहिए। सेवा में भी अहंकार विघ्नरूप ही है। वह कायम रखकर सेवा कैसे सधेगी? मोक्ष में व्यक्तित्व का शून्याकार है। असल में व्यक्तिगत मुक्ति पूर्ण मुक्ति के मार्ग में एक मंजिल है। बिना वहाँ पहुंचे आगे की मंजिल तक कैसे पहुंच सकते हैं? अपने विकारों, दुःखों की जड़ कायम रखकर दूसरों के दुःखों के निवारण की कोशिश नहीं कर सकते।

हम यह भी मानते हैं कि निर्विकारता की प्राप्ति, चित्तशुद्धि, सेवा के द्वारा हो जाती है। वास्तव में हम कितनी ही 'सेवा-सेवा' रटते रहें, पूर्ण निर्विकारता के बाद, चित्तशुद्धि के बाद जो कुछ होता है, वही सच्ची सेवा है। तब तक सेवा, परोपकार, परार्थ आदि बातें केवल बोलने की ही बातें रहेंगी। असल में शुद्ध स्वार्थ–शुद्ध परार्थ–शुद्ध परमार्थ, स्व-पर की घेराबंदी को तोड़कर बाहर आये बिना, 'स्व', या 'पर', दोनों में से किसी की भी सेवा नहीं हो सकती। इसलिए मोक्ष या सेवा, ऐसे झमेले में उलझे बिना मुक्ति, निर्विकारता, आप-पर-भाव का लोप, सेवा में लीन

हो जाना – ये सब एकरूप ही हैं, यह पहचानकर, अपनी खुद की और तद्द्वारा दूसरों की उन्नति को साधने की कोशिश करें।

भावशुद्धि

सेवा छोटी-बड़ी, जितनी, जो हो सकती है, प्रेम के साथ पूर्ण सामर्थ्यभर करें। अपनी शक्ति का पूरा उपयोग करके जो सेवा होगी, वह थोड़ी भी होगी, तो कोई परवाह नहीं। भाव शुद्ध होना चाहिए। नीयत शुद्ध होनी चाहिए। दुनिया के सामने हमारी सेवा की कीमत हो सकती है। लेकिन परमात्मा के सामने क्या हो सकती है? हमारी सेवा से भगवान का क्या बनता-बिगड़ता है? हम कर भी क्या सकते हैं? उसने हमें पैदा किया है और वह हमसे सेवा लेने का नाटक कर रहा है। हमारी सेवा एक चिह्न मात्र है। भगवान वह चिह्न ही चाहते हैं, किन्तु वह शुद्ध होना चाहिए। पत्रं पुष्पं फलं तोयम् पवित्रता के नमूने हैं। जो कुछ भी करें, उसकी पवित्रता देखें। अल्पता या महानता नहीं।

मेरा तो यह विश्वास दृढ़ हो गया है कि मनुष्य अपनी जगह बैठा हुआ सारी दुनिया की सेवा कर सकता है, बशर्ते वह चित्तशुद्धिपूर्वक नजदीकवालों की सेवा में लग जाये।

आत्मदर्शन की छटपटाहट

जिस मनुष्य में आत्मदर्शन की छटपटाहट है, उसका अस्तित्व ही उसकी सर्वोत्तम सेवा है। दूसरी कोई स्थूल सेवा, जो अंगुलिनिर्देश से दिखायी जा सकती है, हो या न भी हो तो कोई फर्क नहीं पड़ता। मेरे इस विचार के कारण, यद्यपि मैं सेवा के नाना प्रकार के उद्योग करता रहता हूँ, उसका मूल्य बाहर से आंकने की मुझे इच्छा ही नहीं होती। बाहर का काम सब शून्य ही है और शून्य ही रहनेवाला है, ऐसा निश्चितरूप से प्रतीत होता हैं। लेकिन, इसलिए जो कुछ सेवा शरीर से हो सकती है, वह छोड़नी नहीं है, पूर्ण करनी है और शून्य समझ लेनी है। शून्य

को दिखाने के लिए हम एक वर्तुल ही तो खींचते हैं न ? हमारी सेवा का वर्तुल भी हमें पूर्ण करना हैं और उसकी कीमत शून्य है, यह अंतर में पहचान लेना है।

वासनाक्षय

ऐसा देखा जाये तो जितनी सेवा हम करते हैं, उससे हमारी सेवा लोग ज्यादा करते हैं। कुल मिलाकर सेवा शून्य हो जाती है। बाह्य कार्य तो सारा दैवाधीन है। हमने उत्पादन बढ़ाया, कुएं खोदे लेकिन भूकंप आया तो सारा-का-सारा खतम हो जायेगा। फिर भी मानव दुःखी दीखा तो उसकी मदद करना अपना कर्तव्य है। वह कर लेंगे। लेकिन मन में यह कसौटी हो कि, बाह्य कार्य कितना सफल हुआ, तो मेरा ख्याल है, हरएक को निराश होना पड़ेगा। मुख्य कसौटी यह है कि वासना का क्षय हो रहा है या नहीं। देखना यह है कि इतना सारा काम हमने किया तो तृष्णा का क्षय होता गया? वासना कम कर पाये, तो हमारा काम सफल हुआ। हम अगर करुणा का काम करना चाहते हैं और तृष्णाक्षय की बात नहीं करते, उस शब्द के उच्चारण की हिम्मत भी नहीं करते, तो हमारा काम अधूरा ही होगा।

सेवा के लिए पूरे जीवन पर काबू होना चाहिए। उसके लिए जीवन में व्रतनिष्ठा चाहिए, नम्रता चाहिए। आम जनता में भक्ति, सदाचरण, सज्जनता का प्रचार करनेवाले कीर्तनकार को व्रतों में स्थिर होना चाहिए और नम्र भी होना चाहिए। सेवा के अनेक प्रकार में से कीर्तन द्वारा सेवा एक प्रकार है। वैसे ही सेवा का एक और प्रकार है, ज्ञानयज्ञ। जीवन सादा, सुंदर, समृद्ध कैसे हो, इस प्रकार की खोज ज्ञान-याज्ञिक करते हैं। जीवन का हर पहलू कुछ-न-कुछ नियमों के अनुसार काम करता है। जीवन के इन नियमों की खोज होनी चाहिए। ज्ञानपरायण लोगों की खोज समाज की आत्मचिंतन-शक्ति बढ़ाने के लिए होती है।

भगवदार्पण

भगवद्गीता गूढ़ भाषा में कहती है कि सामनेवाले को भगवद्स्वरूप समझकर उसकी सेवा करो। जो सेवा करोगे वह भगवद्भाव से करोगे तो ब्रह्मविद्या में प्रवेश होगा, अन्यथा ब्रह्मविद्या में प्रवेश नहीं होगा। जो सेवा की है, वह अच्छी है तो पुण्यकार्य होगा। पुण्यकार्य का भी एक फल है, इसलिए वह फलवती सेवा होगी। निष्फल नहीं होगी। लेकिन ब्रह्मविद्या में फलवती होना भी अच्छा नहीं माना जाता। यानी उसका फल अपने पर लागू हो, यह भी नहीं चाहते। अर्थात् उस फल का अपने साथ संबंध टूटे, ऐसा चाहते हैं। ऐसी स्थिति में वहां भगवद्अर्पण की बात आती है। भगवान को हम पहचानें कि वे सबके अंतर में हैं, गुप्त हैं, लेकिन हैं जरूर इसलिए हम सबकी सेवा में लगे रहें। दूसरों की सेवा का मौका कभी न खोयें। जो सेवायोग्य हैं, उनकी आदरपूर्वक सेवा करना मनुष्य का कर्तव्य है। सेवा के लिए कौन योग्य हैं, यह ढूंढ़ने जाने की जरूरत नहीं। जिसको आवश्यकता है, वही सेवा योग्य है। कुत्ते को जख्म हुआ तो उसकी सेवा करनी चाहिए, क्योंकि उसे उसकी जरूरत है। वह सेवायोग्य गिना जायेगा।

हम अपने को समाज से अलग न समझें और अपने में जितना अच्छा है, वह सबका सब समाज की सेवा में लगायें। अपने में जो अच्छाइयां हैं, उनकी मालिकी भी हमारी नहीं है। वह समाज की सेवा में समर्पित करनी चाहिए। मुझमें जो गुण है, वह भगवान ने मुझे समाज के वास्ते दिया है। उसका विनियोग समाजसेवा में ही होना चाहिए। अपने गुणों का विकास करना मनुष्य का कर्तव्य है। जब वह गुण समाज की सेवा में समर्पित होता है तब विकास होता है, नहीं तो गुण विकास नहीं होता, बल्कि गुण के नाम पर दोष विकास होता है। समाज कार्य करने के लिए ही मेरा शरीर, मन इत्यादि सबकुछ है। मेरा खाना, सोना इत्यादि भी सामाजिक जिम्मेवारी है, यानी वह भी समाजसेवा का एक अंग है, ऐसा मैं मानता हूँ। इस प्रकार जब मैं

समाज को सर्वस्व समर्पण करता हूँ, तब मेरी अपनी व्यक्तिगत गहराई भी एकदम बढ़ जाती है। उसमें अहंकार नहीं रह जाता।

गांधीजी निरंतर सेवा में रत रहते थे, लेकिन हमेशा कहा करते थे कि ‘आपणे तो सेवा करी छूटीए’—हम सेवा करके छूट जायें। यह जो ‘छूटना’ है, वही गांधीजी हैं। सेवा करके छूट जाना। सेवा ‘कर लें’ तो बिलकुल नहीं, ‘करें’ भी नहीं, ‘करके छूट जायें’। ‘छूट जायें’ शब्द महत्त्व का है, उसमें खूबी है।

सेवा के कामों का मूल्यांकन हो ही नहीं सकता। छोटे बच्चे को बड़ा करने की मजदूरी कितनी हुई, क्या यह हिसाब किया जा सकता है? नैतिक सेवा का रूपांतर पैसे में नहीं किया जा सकता । सेवा होती है नैतिक और दाम होते हैं भौतिक। तो सेवा का मूल्य पैसे में कैसे किया जा सकता है?

सिंधी भाषा में एक कहावत है – ‘प्रथम भुखिया, पीछे दुखिया और पीछे सुखिया’। पहले सेवा किसकी करनी? जिसको आज खाने को नहीं मिला, जो भूखा है। नंबर दो वो, जो भुखिया नहीं है, खाने को तो है, लेकिन दूसरे दुःख हैं, वह दुखिया है, उसकी सेवा करना। और नंबर तीन में उनकी सेवा करना, जो सुखिया हैं। करना है सबकी सेवा। लेकिन भुखिया, दुखिया, सुखिया के क्रम से। सेवा सभी की करनी है, समान आत्मीयता से करनी है। सेवा में गरीब-अमीर का भेद नहीं होता, सज्जन-दुर्जन का भेद नहीं होता।

अंतरात्मा की सेवा

हमें शरीर द्वारा शरीर से भिन्न जो आत्मतत्त्व है, उसकी सेवा करनी है। जिस किसी की सेवा करें, उसकी अंतरात्मा की सेवा करें। व्यक्ति और समाज दोनों के शरीर हैं, आत्मा भी है।

व्यक्ति और समाज के शरीर द्वारा हमें व्यक्ति और समाज की आत्मा की सेवा करनी है। व्यक्त द्वारा अव्यक्त की उपासना का आरंभ और अभ्यास इसी से होगा।

कर्म अगर भक्ति के अंग के तौर पर किया जाता है, तो उस कर्म को सेवा का रूप मिल जाता है। असम के आध्यात्मिक साहित्य में उसे 'सेवा-रस' नाम दिया गया है। भारत को भक्ति-रस मालूम है, 'सेवा-रस' नया शब्द है। भक्ति-रस हवा में रह जाता है, लेकिन उसकी सेवा न की, तो भक्ति प्रकट नहीं होती। भक्ति-रस अंतर में अव्यक्त है, सेवा प्रकट वस्तु है।

जनसेवा और अद्वैत

भारत के सेवाक्षेत्र में स्वामी विवेकानंद का बहुत बड़ा योगदान है। शंकराचार्य ने अद्वैत सिखाया, यानी भूतमात्र के हृदय एकरूप हैं, इस बात पर जोर दिया। विवेकानंद ने उसे स्वीकार कर मानवसेवा को उसके साथ जोड़ दिया। इस जमाने में यह बहुत बड़ी बात हुई। अद्वैत और जनसेवा, दोनो एक-दूसरे के पूरक हैं। अद्वैत का प्रकाश जनसेवा के रूप में भलीभाँति प्रकट होता है। जनसेवा से अद्वैत का प्रकाश फैलता है, तो अद्वैत से जनसेवा को आधार मिलता है। एक है बुनियाद, तो दूसरी है उस पर की गयी रचना। दोनों अत्यंत स्वाभाविक है। विवेकानंद ने अद्वैत के साथ दरिद्रनारायण की, भूतमात्र की सेवा जोड़ दी। जहाँ अद्वैत नहीं, वहाँ भेद बना रहता है—हम सेवा करनेवाले हैं और जिनकी सेवा करते हैं वे हमसे अलग हैं, दोनों का भेद बना रहता है। परंतु अद्वैत में वह भेद ही मिट जाता है। यानी जिसकी हम सेवा करते हैं, उसे अपने से अलग नहीं समझते, मानो हम अपनी ही सेवा करते हैं। इसीलिए अहंकार का लेश भी नहीं रहता। अद्वैत और सेवा का यह मिश्रण अत्युत्तम रसायन बन गया।

गांधीजी का योगदान

सामने भूखा मनुष्य खड़ा है। उसको खिलाना सेवा होगी, लेकिन उसको चरखा देना, भूमि देकर कमाकर खाने के लिए सिखाना—यह सच्ची और स्थायी सेवा होगी। इस विचार से गांधीजी ने सेवा को निर्माण कार्य का नाम दिया।

इसके अलावा, गांधीजी ने सामाजिक सेवा के क्षेत्र में आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना की और कहा कि सामाजिक सेवा में आध्यात्मिक मूल्यों का प्रयोग न हो तो उनका मुख्य प्रयोजन ही समाप्त हो जाता है। ध्यान के लिए अहिंसा-सत्यादि व्रतों का पालन जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी सामाजिक सेवा के लिए भी है। जो सेवापरायण होता है, उसे सत्य का पालन करना चाहिए और जो सत्य की उपासना करता है, उसे दुनिया की सेवा भी करनी चाहिए। गुणों के टुकड़े नहीं होते, न होने चाहिए—यह महान विचार गांधीजी ने हमको सिखाया। सामज सेवक के लिए यम- नियम-निष्ठा की यह कल्पना एक विशेष बात है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की जरूरत समाजसेवा के लिए भी है, बल्कि इन्हीं के आधार पर समाजसेवा की कसौटी होगी, जनसेवा की कसौटी होगी, यह कहकर महात्मा गांधी ने संपूर्ण धर्म विचार और तत्त्वज्ञान पर बहुत उपकार किया।

मनुष्य की जीविका के तीन प्रकार हैं— 1. भिक्षा 2. उद्योग और 3. चोरी।

1. भिक्षा यानी समाज की अधिक-से-अधिक सेवा करके समाज से सिर्फ शरीर-धारण भर, कम-से-कम, और वह भी विवश होकर और उपकृत भावना से लेना। इस वर्ग में दाखिल होनेवाले बहुत ही थोड़े हैं, पर महत्त्वपूर्ण हैं और उन्हीं के बल पर दुनिया टिकी है। सच्ची लगन वाले ऐसे साधु पुरुष थोड़े हैं, पर उनका बल अद्भुत है।

2. उद्योग यानी समाज की विशिष्ट सेवा करके उसके बदले में उचित भरण-पोषण लेना। समाज को जितना देना, उससे अधिक न लेना।

3. चोरी यानी समाज की कम-से-कम सेवा करके या सेवा करने का नाटक करके या बिलकुल सेवा किये बिना और कभी-कभी प्रत्यक्ष नुकसान करके भी समाज से ज्यादा-से-ज्यादा भोग लेना। प्रत्यक्ष चोर, लुटेरे, खूनी और उसी तरह उनका

'बंदोबस्त' करनेवाली पुलिस, सैनिक, न्यायाधीश, सरकारी सहायक, वकील, वैद्य, शिक्षक, धर्मोपदेशक, उच्च-उद्योगी और अव्यापारेषु व्यापार करनेवाले— ये सब इस तीसरे वर्ग में आते हैं।

सेवा और सत्ता

बहुत-से लोग जो सेवा में पड़े हैं, उनके दिमाग में सेवा रात-दिन काम करती है। उसके बाहर उनका चित्त जाता ही नहीं। मुझे किसी महान व्यक्ति ने यह भी कह दिया कि जिन मूल्यों को लेकर हम काम करते हैं, उनके ऊपर भी कोई मूल्य है, ऐसी कभी-कभी झांकी होती है, लेकिन चित्त उधर नहीं जाता। सेवा में उन्हें आनंद भी आता होगा। आनंद का ऐसा बंधन हो जाता है कि उससे परे भी कोई चीज है, उसका भान ही नहीं होता। इसका कारण यह है कि सेवा में आसक्ति होती है और अहंकार भी पैदा होता है। सेवा करते-करते इच्छा होती है कि अगर व्यवस्था अच्छी होती तो सेवा भी अच्छी होती। फिर लगता है कि यदि व्यवस्था मेरे हाथ में होती तो और अच्छी सेवा होती। तो सेवा के लिए व्यवस्था और व्यवस्था के लिए सत्ता। इसीलिए आजकल सत्ता हासिल करनेवाले सेवा का नाम लेने लगे हैं। यह प्रगति है! क्योंकि अब सेवा का नाम लिए बिना सत्ता की कोई शोभा नहीं। सत्ता के लिए सत्ता अब गयी। अब सेवा के लिए सत्ता है। अब जरा आगे कदम उठाना है— सेवा के लिए सत्ता की जरूरत नहीं है, बल्कि सेवा के लिए सत्ता बाधक है। जहाँ सत्ता आयेगी, सेवा दूषित होगी। आजकल 'सत्ता के जरिये सेवा' एक मंत्र ही बन गया है। इसे हम भ्रांति-मंत्र कहते हैं। इसके उलट सेवा करते-करते भक्ति प्राप्त करना, निहंकारिता पैदा होना और फिर उससे मुक्ति पाना चाहिए। सेवा एक ऐसा प्रतीक्षालय है, जिसकी एक तरफ से गाड़ी सत्ता की ओर जाती है और दूसरी तरफ से भक्ति और मुक्ति की ओर। हमारा कहना है कि सत्ता में मत पड़िए। सेवा, भक्ति और मुक्ति का रास्ता लीजिए।

निरहंकारिता

सेवा के बारे में जितना सोचते हैं उतना ही उसका अर्थ सूक्ष्म होता जाता है और वह दूर ही दूर भागती जाती है। सेवा यानी संपूर्ण स्व-शून्यता या निरहंकारिता। सेवा को निरहंकारिता से भाग दे सकते हैं। अहंकार को शून्य कर दें, तो कितनी ही अल्प लगनेवाली सेवा अनंत मूल्य ले आती है। मैंने सेवा का एक सूत्र बनाया है, सेवा÷ अहंकार, यानी जो सेवा की गयी हो, उसका अहंकार की मात्रा से भाग देना होगा। मैंने दस सेर सेवा की, लेकिन मेरा अहंकार 40 सेर रहा, तो मेरी सेवा की कीमत 10/40 या 1/4 हो गयी। इसके उलट एक मनुष्य ने एक तोलाभर सेवा की, लेकिन उसका अहंकार शून्य रहा तो उसकी सेवा की कीमत 1/0 यानी अनंत होगी। सेवा बहुत की और अहंकार की मात्रा भी बड़ी रही तो सेवा का मूल्य कम हो जाता है लेकिन सेवा कम होगी और अहंकार शून्य होगा तो उस सेवा का मूल्य अनंत हो जाता है।

सेवा की कीमत निष्ठा से ही होगी, चाहे शक्ति कम हो या अधिक। जिसके पास अधिक शक्ति है, वह अधिक सेवा करेगा और दुनिया कहेगी कि वह बहुत ऊंचा है। लेकिन भगवान के पास उसी की कीमत होगी, जिसके पास निष्ठा है। जब पारमार्थिक बुद्धि से सेवा की जाती है, तभी उसकी भगवान के पास कीमत है। चाहे छोटी-सी सेवा ही क्यों न हो, परंतु अगर वह पूरे निरहंकारभाव से की हुई हो तो उसकी बहुत बड़ी कीमत होगी। कोई बड़ा काम कर लेता है, परंतु उसके काम में अहंकार रहता है, स्वार्थबुद्धि रहती है, तो ऐसे काम से भगवान प्रसन्न नहीं होते। वह सेवा पारमार्थिक नहीं कही जायेगी, वह तो व्यवहार का काम होगा। निरहंकारिता से सेवा की कीमत बढ़ती है और अहंकार से घटती है।

हमारी देह में प्राण-शक्ति काम कर रही है। उसी के आधार पर सारा काम चलता है। यानी हमारे जीवन में जो कुछ काम चलता है, उसमें प्राणशक्ति का उपयोग होता है। लेकिन

उसे नियंत्रित करनेवाली जो शक्ति हममें है, उसी के अनुसार वह प्राण काम करता है। क्रिया का नियमन करनेवाली शक्ति 'अहंकार' है। हर एक मनुष्य में अपना-अपना अहंकार होता है। उनमें तरह-तरह की संकीर्णता छिपी रहती है— भाषा, जाति, धर्म, राष्ट्र, पंथ, उपासना, कुल-परंपरा, विद्या, रूप, गुण आदि के छोटे-छोटे अहंकार। हरएक में ऐसा छोटा-छोटा अहंकार काम करता है और वह दूसरे के अहंकार से टकराता है। ऐसे छोटे-बड़े अनेक झगड़े चलते हैं। सारे झगड़े अहंकारमूलक हैं। लेकिन हम छोटी चीज नहीं, विश्वमानव हैं। सारे विश्व का एक व्यापक अहंकार ! हमारा सबका मिलकर एक व्यापक अहंकार होगा। उसमें हम छोटे-छोटे अहंकार लीन कर देंगे, समर्पित कर देंगे तो दुनिया से सभी झगड़े खत्म हो जायेंगे। हम इस व्यापक अहंकार की खोज करें और छोटे-छोटे अहंकार खत्म करें।

हमारे जीवन में जो-जो काम हम करते हैं, वे सारे काम अपने अहंकार से करते हैं। लेकिन अगर ऐसा कोई काम हमसे बना कि जिसमें हमारा अभिमान नहीं था, हमारा अहंकार नहीं था, हमारी कोई कामना नहीं थी और जिसमें हम खुद नहीं थे, तो उस काम में और उस क्षण में भगवान का जन्म हुआ समझो।

निष्काम सेवा

सेवामय जीवन ही असली जीवन है। शेष जीवन मृत्यु का ही एक रूप है! लेकिन सेवा में भी अगर निष्कामता और निर्विकारता न रही तो वह सेवा अ-सेवा ही होगी। सेवा में निष्कामता आयेगी तब वह कर्मयोग होगा। जिस सेवा की प्रशंसा का डंका दुनिया में बजा, उसका फल मनुष्य को मिल चुका। अब दूसरा फल भगवान क्यों देगा? जो सेवा निष्काम होगी—जिसको दुनिया शायद जानेगी भी नहीं, उस सेवा की कीमत भगवान के पास अतुलनीय है। समाज में वैसे सेवा तो बहुत की जाती है, शायद ही ऐसा कोई हो कि जिसने समाज से सेवा पायी न हो और समाज की सेवा की न हो। पर सेवा में अपेक्षा होती है। कीर्ति

की लालसा होती है। इस तरह कुछ-न-कुछ वासना होती ही है। अपेक्षा के साथ की हुई सेवा में जो आनंद है, वह इतना शुद्ध नहीं, जितना कि निष्काम सेवा में है।

निष्काम सेवा कौन करता है? जिसको सेवा में खुद अपना ही दर्शन होता है, वह निष्काम सेवा करता है। इस तरह दूसरों की सेवा यानी हम अपनी ही सेवा करते हैं, ऐसे अनुभव आने चाहिए, तो वह निष्काम सेवा होगी। इसी को आत्मदर्शन कहते हैं। इसी को ईश्वर दर्शन कहते हैं।

गांधीजी बार-बार कहते थे कि 'हमें अपना कार्यारंभ नीचेवालों को ऊपर उठाकर करना चाहिए। जो पहले से ऊपर हैं, उनकी चिंता आखीर में की जाये। हमारे समाज में जो सबसे परित्यक्त है, पिछड़ा हुआ है, उसे ऊपर उठाने का कार्य करना चाहिए।

कर्म आनंद से करते हैं, स्वच्छ सुंदर करते हैं, लेकिन इतने से कर्म ब्रह्मामय नहीं होता। कर्म में साधुता भी चाहिए। मतलब यह कि दुनिया के साथ, साथियों के साथ सरलता से व्यवहार करें। ब्रह्मभावना की यही कसौटी है। कुदरत के साथ उतनी कसौटी नहीं हो सकती, जितनी मनुष्य के साथ होती है। पेड़ के साथ काम, क्रोध, शंका, मत्सर, वासना उत्पन्न नहीं होती। इसलिए सृष्टि की सेवा करना आसान है। मनुष्य की सेवा में ब्रह्मभावना की परीक्षा होती है।

सेवक के गुण

1. सेवक में नम्रता चाहिए। नम्रता सबसे बड़ा गुण है।
2. सेवक को कभी हार न खानी चाहिए। सतत काम करते रहना चाहिए। गंगा सतत बहती है, सूर्य रोज उगता है, वैसे ही सेवक को सतत काम करना चाहिए।
3. उसे सभी के लिए आदर रखना चाहिए। किसी की भी निंदा नहीं करनी चाहिए।

4. उसे अपनी आत्मा में विश्वास हो तथा ईश्वर की सर्वव्यापी शक्ति पर विश्वास होना चाहिए।

5. समत्व-बुद्धि से सोचने की आदत डालनी चाहिए।

6. सेवक को गुणों का ही चिंतन करना चाहिए। किसी का दोष बताना हो, तो पीछे नहीं, सामने रूबरू बताना चाहिए।

7. सेवक का रहन-सहन सादा-से-सादा होना चाहिए।

8. सेवक में धृति और उत्साह, दोनों होने चाहिए।

9. सेवक में भावना और व्यवहारकुशलता, दोनों चाहिए।

10. सेवक को स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय यानी ग्रंथ का अध्ययन नहीं, खुद का अध्ययन। मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है, मैं यहाँ किसलिए आया हूँ, इत्यादि।

11. सेवक को विचारों का अध्ययन करना चाहिए। निरंतर अभ्यास और अध्याय जितना चलेगा, उतनी गहराई आयेगी। कर्मयोग के मूल में ज्ञाननिष्ठा हुए बगैर कर्मयोग को अखंड स्फूर्ति कहाँ से मिलेगी? इसलिए हमारे सारे कार्यकर्ता अध्यात्मनिष्ठा और जीवन के सम्यक् विचार से अभिमंत्रित होने चाहिए।

12. सेवक को समाज में एकरूप होना चाहिए। साधारण लोगों से अलग अपना कोई वर्ग वह निमार्ण न करे। उसका जीवन लोकमय होना चाहिए।

13. सेवक को दुनिया की सेवा करनी है। दुनिया को सुधारने का बोझ उस पर नहीं है। उसे खुद को सुधारना तथा अन्यों की सेवा करनी चाहिए।

•

9. मा फलेषु

* *फल का अधिकार के स्थान पर 'न हो', 'नहीं है'*

* *कर्म का अधिकार जहाँ, वहाँ फल का भी अधिकार*

* *आत्मा का अकर्तृत्व अनुभव करने के लिए फलाधिकार छोड़ें*

* *कर्म-छेदन से नहीं, फल-छेदन से अकर्तापन की अनुभूति*

* *फलत्याग के सामने काम्य-निषिद्ध कर्म खड़े नहीं रह सकते*

* *फलत्याग का भी त्याग*

* *बाहरी फल कर्म का शरीर, चित्तशुद्धि आत्मा*

* *फलत्याग बड़ी भारी पूंजी, इन्वेस्टमेंट है*

* *'कृष्णार्पणम्'—फलत्याग की पराकाष्ठा*

भगवद्गीता का यह प्रसिद्ध वचन है—**कर्मण्येवाधिकारस्तु मा फलेषु कदाचन** (गी. 2. 47)—कर्म में ही तेरा अधिकार है, वह फल में कभी न हो। यहाँ भगवान ने मा फलेषु कहा है, फलेषु नहीं कहा है। पाणिनि के व्याकरण के अनुसार मा के साथ अस्तु का प्रयोग होता है, अस्ति का नहीं। अस्तु का अर्थ है, 'हो', अस्ति का अर्थ है, 'है'। इसका मतलब है कि तुम्हारा फल पर अधिकार 'न हो', न कि 'नहीं है'। कर्म करनेवाला फल का अधिकारी है, परंतु भगवान कहते हैं कि तू खुद अपनी तरफ से फल पाने के अधिकार को छोड़ दे।

मनुष्य में दो वृत्तियां काम करती हैं—एक कहती है, 'फल नहीं मिलता तो कर्म नहीं करूंगा'। दूसरी कहती है, 'करूंगा तो फल चाहिए ही।' इनमें पहली के साथ आलस्य और दूसरी के साथ भोक्तापन जुड़ा है। रजोगुण कहता है, 'लूंगा तो फल के सहित ही लूंगा।' और

तमोगुण कहता है, 'छोड़ूंगा तो कर्मसहित ही छोड़ूंगा'। दोनो एक दूसरे के भाई ही हैं। गीता बीच का रास्ता दिखाती है। वह कहती है, कर्म करना है, फल नहीं भोगना है। 'फल की इच्छा न रखो'—ऐसा कहते हुए गीता यह भी जताती है कि कर्म उत्कृष्ट होना चाहिए। वह फल के हेतु को छोड़ने को कहती है। इसका अर्थ यह नहीं कि कर्ता फल-निष्पति के प्रति बेपरवाह रहे। फल मिलना ही चाहिए, ऐसी कुशलता से कर्म करना, न मिलने पर भी समत्व को न खोना, और मिलने पर उसे अपने आप से अलग रखना। इस प्रकार बोना कि बोने पर उगना ही चाहिए और न उगा तो समत्व नहीं खोना। फल प्राप्त होगा तो उसका भोग नहीं लेना है। अपने से उसे तोड़ डालना है। उसे अपने साथ जोड़ना नहीं, समाज को अर्पण करना है। यह है फलत्याग।

जिसे कर्म का अधिकार है, उसे फल का भी है। परंतु गीता में यह विशेष शिक्षा दी गयी है कि तू फल का अधिकार छोड़ दे, केवल कर्म तक ही अधिकार रख। वैसे तो मैंने खेती की, उसमें जो फसल आयेगी, उसका मैं अधिकारी हूँ। नौकरी करता हूँ तो तनख्वाह लेने का अधिकारी हूं। जैसा कर्म में अधिकार है वैसा फल में भी है। लेकिन गीता कहती है कि केवल कर्म का ही अधिकार रखें। सामान्य नीतिशास्त्र से यह अधिक ऊँची सिखावन है। नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र की भूमिका है 'जिसका कर्म, उसी का फल'। परंतु गीता की भूमिका इससे ऊंची है। गीता कहती है, 'कर्म का अधिकार है, अतएव फल का भी है, लेकिन तू कर्म का अधिकार तो रख, परंतु फल का छोड़ दे।' यह क्यों? गीता कहती है कि तुम्हारा तत्त्वज्ञान ही बताता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ। अतः यदि तुम्हें अपने अकर्तापन का अनुभव करना हो, तो तुम फल को ग्रहण मत करो।

गीता एक ओर आत्मा के अकर्तृत्व का प्रतिपादन करती है और दूसरी ओर से स्वधर्म को निरंतर करते रहने की बात कहती है। आत्मा के अकर्तृत्व और स्वधर्म का पालन—इन दो

सिद्धांतों का मेल बैठाने के लिए गीता ने फलत्याग बताया है। स्वधर्मरूपी कर्म का आचरण करना और फल को छोड़ देना—अपने को अकर्ता अनुभव करने का यह आरंभ है। गीता कहती है—‘तुमने आत्मा का अकर्तापन स्वीकार किया है। जबकि कर्म ही तुम्हारा नहीं है, तो फिर फल कहाँ से होगा?’ ‘मैं देह से भिन्न अकर्ता हूं’, ऐसा अभ्यास कर्म छोड़ देने से नहीं हो सकता। फल को छोड़ने से ही होगा। आत्मा के अकर्तापन की अनुभूति का आरंभ कर्म-छेदन से नहीं, फल-छेदन से होता है।

फलत्यागपूर्वक कर्म करना कोई केवल कृत्रिम, तांत्रिक और यांत्रिक क्रिया तो है नहीं। फलत्याग का तत्त्व सर्वत्र लागू किया जा सकता है। इस कसौटी के द्वारा अपने-आप मालूम हो जाता है कि कौन-से कर्म किये जायें और कौन-से नहीं। हिंसात्मक कर्म, असत्यमय कर्म, चौर्य कर्म फलत्यागपूर्वक किये ही नहीं जा सकते। फलत्याग की कसौटी पर कसते ही ये कर्म गिर पड़ते हैं। सूर्य की प्रभा फैलते ही चीजें उजली दिखायी देने लगती हैं, पर अंधेरा भी क्या उजला दिखायी देता है। वह तो नष्ट ही हो जाता है। ऐसी ही स्थिति काम्य और निषिद्ध कर्मों की है। फलत्याग के सामने काम्य और निषिद्ध (अर्थात् राजस और तामस) कर्म खड़े ही नहीं रह सकते। हमें सब कर्म फलत्याग की कसौटी पर कस लेने चाहिए। पहले यह देख लेना चाहिए कि जो कर्म मैं करना चाहता हूँ, वह अनासक्तिपूर्वक, फल की लेशमात्र भी अपेक्षा न रखते हुए करना संभव है क्या? फलत्याग ही कर्म करने की कसौटी है। इस कसौटी के अनुसार काम्य कर्म अपने-आप ही त्याज्य सिद्ध होते हैं। उसका तो त्याग ही उचित है। अब बचे शुद्ध सात्त्विक कर्म। वे अनासक्तिपूर्वक अहंकार छोड़कर करने चाहिए। काम्य कर्मों का त्याग भी तो एक कर्म ही हुआ। फलत्याग की कैंची उस पर भी चलाओ। फलत्याग का भी अभिमान आ जाता है कि मैंने इतना फलत्याग किया। इस प्रकार फलत्याग का भी भान आ गया तो कर्तृत्व का आरोप आ ही जाता है। त्याग का अहंकार दूर करने के लिए कर्म का हेतु ही बदल देना चाहिए। चित्त पर मैल होने के कारण आत्मा का स्वच्छ दर्शन नहीं होता। चित्तशुद्धि से

आत्मा का स्वच्छ दर्शन नहीं होता। चित्तशुद्धि से आत्मा का स्वच्छ दर्शन होगा, आत्मा के अकर्तृत्व का भान होगा।

बाह्य देह और भीतरी आत्मा, इस तरह प्रत्येक वस्तु का दुहरा रूप है। कर्म में भी यह बात है। बाहरी फल कर्म का शरीर है और कर्म की बदौलत जो चित्तशुद्धि होती है वह कर्म की आत्मा है। स्वधर्माचरण का बाहरी फलरूप शरीर छोड़कर भीतरी चित्तशुद्धिरूप सारभूत आत्मा को हम ग्रहण करें, हृदय में धारण करें।

साधक फलत्याग करेगा चित्तशुद्धि के लिए, जबकि सिद्धपुरुष का फलत्याग होता है, परितृप्ति के कारण। ज्ञानदेव ने बताया है कि पेड़ को फल लगता है, परंतु फल को कौन-सा फल लगेगा?

अपने हाथ से धर्म का आचरण होने पर जो फल मिलेगा, वह भगवान को अर्पण करना है। अगर हमने फलत्याग की बात छोड़ी तो उसका मतलब होगा, धर्म छोड़ा। जो फल की वासना नहीं रखता, उसकी बीज पर श्रद्धा है, फल पर नहीं।

कर्मयोग में अगर फलत्याग की युक्ति अपनायी तो अनंत फल मिलेगा। थोड़ा-सा देने से अनंत का लाभ होगा। दरवाजा खोलकर अंदर की थोड़ी हवा बाहर जाने देंगे तो बाहर की अनंत हवा अंदर आयेगी। दो हाथ से देना, हजार हाथ से लेना। फलत्याग तो इन्वेस्टमेंट है, बड़ी भारी पूंजी है।

जितने सद्गुण हैं, उन सबमें फलत्याग श्रेष्ठ है। मैंने कुछ काम किया, उसके फल का मुझे अधिकार है। लेकिन उस अधिकार को मैंने समाज को समर्पित कर दिया। यह फलत्याग का आरंभ है। मैंने क्या काम किया? परमेश्वर ने जो कराया वही किया, इसलिए मेरा कोई हक नहीं। जो कुछ है, वह ईश्वर का है, इसलिए ईश्वर को समर्पण—यह भावना फलत्याग की

पराकाष्ठा है। इसी को ‘कृष्णार्पणम्’ कहते हैं। फलत्याग की परिसमाप्ति का अर्थ है, ‘कृष्णार्पणम्’, । परमात्मा की शरण जाने की क्रिया सतत चलनी चाहिए। खाना-पीना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, जागना-सोना सबकुछ भगवान को समर्पित करना चाहिए और इस तरह उसके साथ सीधा संपर्क स्थापित करना चाहिए। तो, अपनी कुल शक्ति, संपत्ति, बुद्धि और ताकत समाज की सेवा में समर्पित करें या कृष्णार्पण करें और भगवान की कृपा से समाज से जो वापस मिले, उसे प्रसाद के तौर पर ग्रहण करें

•

10. वेदोपनिषद में कर्मविभावना

** पूर्वमीमांसा शास्त्र में कर्म का विकास*

** चतुर्विध कर्म—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध*

** कर्म से छूटने के लिए कर्म का विधान*

** वैदिक ऋषि के जीवन-कथन में श्रम महिमा*

** कर्म करते-करते सौ साल जीयें*

** आत्मविद्या को क्रिया की कसौटी पर कसना*

ऋग्वेद में प्रधानतः उपासना का ही वर्णन है। थोड़ा कर्म और ज्ञान का भी अंश है। उपासना में इन दोनों की आवश्यकता है। वैदिक काल के बाद ब्राह्मण और उपनिषद काल का आरंभ होता है। इनमें वेदों के ही विनियोग, उपयोग और प्रयोगों का वर्णन है। वेद के कर्मकांड की चर्चा करनेवाला जो शास्त्र है, उसे पूर्वमीमांसा कहते हैं। पूर्वमीमांसा यानी ब्राह्मणग्रंथों में कर्म का विकास किया गया है, और उत्तरमीमांसा अर्थात् उपनिषदों में ज्ञान का विकास किया गया है।

चतुर्विध कर्म : पूर्वमीमांसा में जो कर्म का विकास किया गया है, वह परिपूर्ण तो नहीं, लेकिन काफी प्रचुर और गहरा है। उनमें कर्म के चार विभाग किये गये हैं—1. नित्य 2. नैमित्तिक 3. काम्य और 4. निषिद्ध।

नित्य कर्म वे हैं, जिनके करने में कोई खास बड़ा गुण नहीं हैं, परन्तु जिनके न करने में बड़ा ही दोष है। अनेक कर्म जो समाज की चेतना में पूर्ण रूप से व्याप्त हो गये हैं, वे इस श्रेणी में आते हैं। स्नान, संध्या, अहिंसा, सत्यभाषण आदि नित्य कर्म हैं।

नैमित्तिक कर्म वे हैं, जो मौके-मौके पर आते हैं। लेकिन जिस समय आते हैं, उस समय सब कर्मों से ज्यादा आवश्यक हो जाते हैं। जैसे आग बुझाने के लिए नित्य कर्म—संध्या को छोड़कर जाना आवश्यक होता है। राष्ट्र संकट के समय अध्ययन-अध्यापन कार्य छोड़कर राष्ट्रसंरक्षण के कार्य में लग जाना अति आवश्यक कर्म है।

काम्य कर्म किसी कामना के होने पर किया जाता है। जाड़ा पड़ता है इसलिए कपड़ा जरूरी है, इसलए कपड़ा बुनना जरूरी है। यह काम्य कर्म हुआ। काम्य कर्म बुरे ही हों, ऐसा नहीं है। काम्य कर्म ऐच्छिक हैं। जिसको कामना है, वह करेगा। काम्य कर्म न करनेवाले को भी नित्य-नैमित्तिक करना जरूरी है। नित्य-नैमित्तिक कर्मों से समाज की हानि होती है। निषिद्ध कर्म वे हैं, जिनको करना पाप है और जो समाज तथा व्यक्ति के लिए अहितकर है।

नित्य-नैमित्तिक—सात्त्विक, काम्य—राजस, निषिद्ध—तामस।

कर्म से छूटने के लिए कर्म : लोग कहते हैं कि 'वेद कर्मकांड कहता है।' परन्तु वेद कर्म करने के लिए जो कहता है, वह कर्म से छूटने के लिए ही कहता है। कर्म से छुटकारा पाना चाहते हो, तो खूब कर्म करो। कैसे ? होमियोपैथी औषधि के समान। रोगमुक्ति के लिए होमियोपैथी दवा प्रथम रोग बढ़ाती है, वैसे ही वेद कर्म से छुड़ाने के लिए कर्म बढ़ाने को कहता है। अन्य कुछ दवाएं रोगमुक्ति के लिए रोग को कम करती है। वैसे उपनिषद कर्म से मुक्ति पाने के लिए कर्म कम करने को कहता है। वेद की पद्धति इससे उलटी है। यह वेद की अपनी कुशलता है।

अधिक कर्म करके कर्म से मुक्ति पाने की एक प्रक्रिया है। दवा के साथ वैद्य पथ्य बताता है। वैसे ही वेद भी बताता है। वेद का पथ्य है, अनासक्ति। कर्म के फल के विषय में अनासक्त रहना और कर्म का संबंध ईश्वर के साथ जोड़ना, इन दो पथ्यों का पालन करते हैं, तो वेदोक्त कर्म करते हुए भी नैष्कर्म्य-सिद्धि मिलेगी।

सवाल आयेगा कि वेदवाक्यों में कर्मों के फल भी बताये हैं, फिर फल छोड़ने के लिए कैसे कहते हैं? वेद में जो फलश्रुति है, वह रोचनार्थ है। यानी कर्म में रुचि पैदा करने के लिए है। आपको कर्म की प्रेरणा मिले, इसीलिए वेद में कर्म-फलश्रुति कही गयी है।

मनुस्मृति में आया है कि सुबह-शाम संध्या करनी चाहिए। उसकी फलश्रुति बतायी गयी है, 'दीर्घायु'। यह फलश्रुति मिथ्या नहीं है। दीर्घजीवी होंगे, यह बात सही है। संध्या करने के लिए प्रातःकाल जल्दी उठना होगा और इसलिए जल्दी सोना पड़ेगा। संध्या के समय चित्त एकाग्र करना होगा, विकारों को हटाना होगा। यह सारा करेंगे, तो निःसंदेह आरोग्य बढ़ेगा। इसलिए यह वाक्य मिथ्या नहीं हो सकता, यह सही है। दीर्घजीवी होने के दूसरे भी अनेक कारण हो सकते हैं। लेकिन यह भी एक कारण है। संध्या-उपासना का मुख्य उद्देश्य यह भी है कि भगवान की धारणा की जाये।

संध्या-उपासना लगभग वैदिक काल से चली आयी है। संध्या-उपासना संधिकाल में करनी होती है। खासकर सूर्य के साथ उसका संबंध जुड़ा है। और सूर्य- नारायण भगवान का प्रतीक है। वेद कहता ही है सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च–सूर्य स्थावर-जंगम की आत्मा है।

वेद में जो आज्ञाएं आती हैं, जो करने की बात कही गयी है, उसे विधान कहते हैं। वेद जो कर्म करने के लिए कहता है, वह भगवान की ही उपासना के लिए कहता है। वैसे, कर्म अनेक होते हैं। एक ही कर्म से भगवान की उपासना होती है,ऐसा नहीं। सारे भिन्न-भिन्न कर्म भगवान के लिए ही करने हैं। वेदों के इस कथन का इतना ही अर्थ है कि वह खुद ही उपासना के लिए विकल्प खड़ा करता है और फिर उसका निरसन कर देता है।

बचपन में हमें एक बात से बड़ा दुःख होता था। हमारे दादाजी गणेशजी की चंदन की मूर्ति बनाते थे। मैं छोटा बच्चा था, तो चंदन घिसने के लिए मुझे ही कहा जाता था। काफी चंदन घिसना पड़ता, तब उस चंदन की मूर्ति बनती थी। फिर दस दिन उसकी पूजा होती और आखिर

में उसका विसर्जन हो जाता था। हमें उससे बड़ा दुःख होता था। इतना चंदन घिसकर मूर्ति बनायी, दस दिन उसकी पूजा-उपासना की और अंत में उसे डुबो दिया ! इसे 'आवाहन' और 'विसर्जन' कहते हैं। पर समझने की बात है कि यदि ऐसा न करें, तो मूर्ति ही भगवान बन जायेगी और भगवान का मूल स्वरूप भूल जायेगा। मूर्ति ही भगवान है, यह भ्रम न रहे, इस वास्ते उसे अंत में डुबो दिया जाता है। वेद कहता है कि आपने उपासना की, फिर उसकी आसक्ति हुई, तो अब उसे छोड़ दो। आरंभ में इसका आधार लें, उपासना करें, पर अंत में वह भी छोड़ दें।

भगवान कहता है, एतावान् सर्ववेदार्थः—यही सर्व वेदों का अर्थ है। प्रथम जो भगवान का भेदरूप है, उसका आधार लें—भिदां आस्थाय—ऐसा कहकर बाद में वेद उसी का निषेध करता है—प्रतिषिध्य। पहले पकड़वाता है, बाद में अनुवाद करता है, उसके बाद निषेध करता है और अंत में स्वयं वेद ही खतम हो जाता है। वेद कहता है कि अंत में मेरा भी त्याग करो। नारद ने संन्यास का वर्णन करते हुए कहा है, वेदान् अपि संन्यस्यति (वेदों को भी छोड़ देता है)।

इस तरह वेद हमसे एक कठोर काम करवाता है। जिसको हमने पहले पकड़ा था, फिर उसकी उपासना की थी, उसे संजोया-संभाला था, अंत में उसी को छोड़ने के लिए कहता है। अगर आपकी वैसी तैयारी न होगी और आपने केवल पहली ही आज्ञा मानी, तो आप आज्ञाकारी साबित नहीं होंगे। वेद अंतिम अनासक्ति की बात कहता है। अंत में अनासक्ति सध गयी, तो परमात्मा की प्राप्ति होगी।

सारांश, वेद ने कर्म करने के लिए कहा है, उसका उद्दिष्ट परमार्थ-दर्शन ही है। उसके लिए लोगों में रुचि पैदा हो, इसलिए फलश्रुति कही गयी। पर यदि मनुष्य संध्या का कर्म करते समय फलश्रुति से चिपका रहेगा, तो उसे आरोग्य मिलेगा, लेकिन परमात्म-दर्शन नहीं होगा।

यदि वह परमात्म-दर्शन की दृष्टि रखेगा, तो उसे परमात्मा-दर्शन तो मिलेगा ही, आरोग्य भी मिलनेवाला है। यह अक्ल की बात है कि मनुष्य को क्या करना चाहिए।

तात्पर्य यह कि वेद में जो अनेक कर्म करने का विधान है, वह कर्म से मुक्ति पाने के लिए ही है। जो फलश्रुति कही गयी है, वह केवल रुचि बढ़ाने के लिए है। भगवत्-दर्शन की लालसा बढ़े, भगवत्-साक्षात्कार की इच्छा हो, केवल इसीलिए वह कही गयी है। अतः यह नहीं मानना चाहिए कि वेद कर्मकांडी है।

* *

वैदिक ऋषि के जीवन-कथन में श्रममहिमा : ऋषि गृत्समद अखंड अंतर्मुख वृत्ति रखने का प्रयत्न करते हुए प्रतिदिन कोइ-न-कोई शरीर-परिश्रमात्मक और उत्पादक कार्य करते ही रहते थे। माहं अन्यकृतेन भोजम्—दूसरों के परिश्रम का उपभोग करना मेरे लिए उचित नहीं है, यह उनका जीवनसूत्र था। वे लोक-सेवापरायण थे। इसलिए उनके योगक्षेम की चिंता लोग किया करते थे। लेकिन वह अपने मन में सदा यही चिंतन किया करते थे कि 'लोगों से जितना मिलता है, क्या मैं उसका सौगुना उन्हें लौटाता हूँ और उसमें भी क्या नवीन उत्पादन का कोई अंश होता है?

* *

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः— ऋग्वेद का यह मंत्र कहता है कि श्रम करके मनुष्य जब श्रान्त हो जाता है, थक जाता है, तब देव उसे मदद करते हैं। कोई आलसी हो, व्यसनी हो, ऐसे लोगों की परमेश्वर मदद नहीं करता।

श्रम में हमारे सबके हाथ नहीं लगते हैं तो देव क्यों अपनी अंगुली लगायेगा! भक्त करके थके बिना भगवान मदद नहीं करता, यह उसकी रीति जाहिर ही है। इसलिए नम्रता से काम में लगें, दृढ़ निश्चय रखें, सातत्य टिकायें, किसी का हृदय न दुखायें और मुफ्त का यश प्राप्त करें।

* *

समाज में दो प्रकार के लोग होते हैं—एक शरीर से मेहनत करनेवाले और दूसरे बुद्धिप्रधान काम करनेवाले। एक श्रमनिष्ठ, श्रमप्रधान वर्ण और दूसरा ज्ञाननिष्ठ, ज्ञानप्रधान वर्ण। और सब लोग तो एक-एक वर्ण के हुआ करते हैं, लेकिन अगस्त्य ऋषि द्वै-वर्णिक थे। वे मंत्रद्रष्टा तो थे ही, साथ-साथ वे कुदाल लेकर खुदाई भी करते थे। अंदर से ज्ञाननिष्ठ और बाहर से श्रमनिष्ठ होना चाहिए, दोनों शक्तियों का संयोग एक ही व्यक्ति में होना चाहिए, ऐसा उत्तम आदर्श अगस्त्य ऋषि ने पेश किया। श्रमनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा, दोनों शक्तियों का संयोग, सामरस्य, समन्वय उनमें हुआ था। उस महान ऋषि ने दोनों वर्णों का पोषण किया—उभौ वर्णौ ऋषिरूग्रः पुपोष। शारीरिक श्रम से एक वर्ण का और मानसिक श्रम से दूसरे वर्ण का पोषण किया। ज्ञानयुक्त परिश्रमशाली होने के कारण यह महापुरुष ऋषि कहलाया।

* *

जिस परमेश्वर ने इतना उत्पादन किया, सारी सृष्टि और समाज बनाया, उसे क्या समर्पण किया जाये ? वेदों ने कहा है—चक्रिं विश्वानि चक्रये। जिसने विश्व का निर्माण किया है, उसे उत्पादन ही समर्पित किया जा सकता है। वह सारे विश्व को बनाता है, उसे अगर हम कोई चीज समर्पण करना चाहें, तो शरीरश्रम से पैदा हुई चीज ही समर्पण करनी चाहिए। साथ ही हमारा वह उत्पादक श्रम अविरोधी होना चाहिए।

* *

वेद के ऋषि हंसिये को ईश्वर-प्राप्ति का साधन मानते हैं और कहते हैं कि हे परमेश्वर, तेरी प्राप्ति के लिए हाथ में हंसिया लेकर मैं खेत में अन्नोत्पत्ति का काम करता हूँ। आशा है कि तू ऊपर से अपनी कृपा की बारिश बरसायेगा। वेद में यज्ञ का अर्थ है, प्रत्यक्ष काम करके कुछ

उत्पन्न करना, कुछ उसमें जलाना और उसमें से जो पैदा हुआ है, उसका अर्पण करना। परिश्रम से तप होता है, देने में दान और जलाने में यज्ञ—तीनों मिलकर हवन होता है। श्रम करके अन्न उत्पन्न करना, इस परिश्रम से शरीर की चरबी जलाना और जो कुछ पैदा हो वह समाजरूपी ईश्वर को अर्पण करना, इस प्रकार यज्ञ-दान-तप मिलकर यज्ञ पूरा होता है। एक वैदिक ऋषि कहता है, **अव स्म वेषणे**, **स्वेदं पथिषु जुह्वति**। **यस्य वेषणे**—जिसकी सेवा के लिए साधक, **पथिषु**— रास्ते में, **स्वेदं**—पसीने की, **जुह्वति**—आहुति देता है। परमात्मा को प्राप्त करने के लिए, परमात्मा की सेवा के लिए साधक ने हाथ में कुल्हाड़ी ली है। पसीने से तरबतर हुआ वह साधक, रास्ते में पसीने की बूंदें गिराता है। यह एक बड़ा यज्ञ है। यज्ञ में घी जलाते हैं। लेकिन इस यज्ञ का घी तो अपना यह पसीना है। उसकी आहुति देकर हम भू-माता की सेवा करें।

* *

प्राचीन ऋषियों को खेती के लिए बहुत प्रेम था। वेदों ने तो खेती करने की स्पष्ट आज्ञा ही दी है। एक सुंदर वचन है, जिसमें 'कृषि विरुद्ध द्यूत' ऐसी कल्पना की है। कृषि प्रामाणिक परिश्रम का उपलक्षण है, तद्विपरीत द्यूत परिश्रम टालकर पैसा कमाने की जुआरी वृत्ति है। वेद कहता है, **अक्षैर मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व, वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः**—अक्षों से मत खेल, खेती कर। उससे वित्त मिलेगा, वह यद्यपि थोड़ा होगा, परन्तु तू उसी में खुशी मान। अक्ष का अर्थ है, जुआ। कृषि को छोड़कर दूसरे साधनों से पैदा करने को वेदभगवान जुआ मानते हैं। खेती से मिला हुआ 'थोड़ा-सा', 'बहुत' के समान ही है। क्योंकि वह थोड़ा होने पर भी नयी पैदाइश का है। किसान की कमाई के हर कण में साक्षात् लक्ष्मी का निवास होता है। लक्ष्मी और पैसा दोनों में अंतर है। पैसा चोरी से, लूट से, सट्टेबाजी से मिलता है, झूठ से मिलता है, वागवैभव से मिलता है, डंडे से मिलता है, बंदूक से मिलता है, ऊधम मचाने से मिलता है, राजा की मुहर से मिलता है। किससे नहीं मिलता ? परंतु लक्ष्मी का एक कण भी प्राप्त करने का

सामर्थ्य किसी पंडित के वागविलास में नहीं है, किसी ऊधमी के डंडे में नहीं है या किसी राजराजेश्वर की मुहर में नहीं है। लक्ष्मी देवता है। उससे किसी की हानि नहीं होती, रक्षा होती है। कृषि-कार्य उत्पत्ति-कार्य है। यही लक्ष्मी है। यही उत्तम और प्रधान कार्य है। इसी में रममाण हो जाओ, ऐसा वैदिक आदेश है।

* *

ईशावास्य उपनिषद कहता है, इहलोक में कर्म करते-करते ही, सौ साल तक जीने की इच्छा कर—**कुर्वन् एव इह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।** कर्मयोग से बचनेवाले को मानो जीने का हक ही नहीं, ऐसा श्रुति सूचित करती है। कर्मयोग ही जीवन है, अकर्मण्यता ही मरण है। कर्म करनेवाला ही जीने का अधिकारी है। जो कर्मनिष्ठा छोड़कर भोगवृत्ति रखता है, वह मृत्यु का अधिकारी बनता है। मनुष्य सौ साल जीने की चाह रखे किंतु व्यर्थ जीवन नहीं, सार्थक जीवन। सार्थक जीवन यानी निरंतर सेवाकार्य करते हुए जीना। समाज में कुछ लोगों का जीवन अधिक श्रम के कारण क्षीण होता है, कुछ लोगों का जीवन आराम में रहने से क्षीण होता है। भगवान ने हाथ दिये हैं, उसका उपयोग करके प्रत्येक मनुष्य को उत्पादन कार्य में भाग लेना होगा और सृष्टि की सेवा करते हुए जीना होगा।

बिना कर्म के जीवन की इच्छा रखना, जीवन के साथ बेईमानी है! निरंतर कर्म करते हुए जैसी जिंदगी भगवान हमें दे, जीना चाहिए। जब हम कर्म को टालते हैं, तब जीवन भाररूप होता है, शापरूप होता है। जाने-अजाने हम सब यह कर रहे हैं। इसी से हम दुःख भोग रहे हैं। दुनिया में जो पाप हैं, वे भी बहुत सारे इसी से पैदा हुए हैं।

यहाँ कर्म करते-करते सौ साल जीने की बात कही गयी है। सामान्यतः सौ साल की मर्यादा को पहुँचना कठिन नहीं होना चाहिए। उसके लिए जीवन योग्य तरह से जीना सीखना होगा। जिसके कारण शक्तिक्षय होता है, वे सब दरवाजे बंद करने होंगे। इसलिए आरोग्य की

उपेक्षा न करें, समत्वयुक्त जीवन जीयें, मानसिक क्षोभ न होने दें। वेदों की शिक्षा है—**अदीनाः स्याम शरदः शतम्**—दीन न होते हुए सौ बरस जीयें। **कुर्वन्नेव इह कर्माणि** में वह सूचित है ही।

एवं त्वयि—तेरे लिए यही एक रास्ता है, **न अन्यथा इतः अस्ति**—दूसरा रास्ता है ही नहीं। देहधारी मनुष्य, देह है तब तक निष्काम सेवा करता जाये, इसके सिवा और कोई चारा नहीं है। देह में अनेक इंद्रियां हैं, उनसे निरंतर काम लेना कर्मयोग है। शरीर है तो उससे समाज को कुछ सेवा मिलनी चाहिए। अगर देह नहीं होती तो फिर चिंतन से भी काम चल जाता। साधकावस्था में कर्ममुक्ति की बात करना गलत है। ज्ञान की अंतिम अवस्था में कर्ममुक्ति हो सकती है। साधकावस्था में विषयवासना-मुक्ति और सिद्धावस्था में कर्ममुक्ति हो सकती है।

न कर्म लिप्यते नरे—मनुष्य को कर्म का लेप नहीं लगता। अक्सर कहा जाता है कि साधक को कर्म नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसका लेप होता है। मनुष्य को कर्म चिपकता नहीं, वासना चिपकती है। देह के साथ कर्म तो आता ही है। परन्तु फल की वासना मनुष्य को सताती रहती है। कर्मफल की वासना मनुष्य के चित्त पर असर करती है, जिसके कारण हम बंधन में पड़ जाते हैं। उस वासना को काटकर अनासक्त होकर कर्म किया जाये तो फिर कर्म का लेप नहीं होता।

कर्म मनुष्य से चिपक नहीं सकता, यह एक महान सिद्धांत है कि कर्म जड़ है, मनुष्य चेतन है। मनुष्य से वह कैसे चिपकेगा? मनुष्य अगर स्वयं उसे चिपका ले, तो अलग बात। **न कर्म लिंप्यते नरे** में नर शब्द व्युत्पत्ति से नेतृत्वसूचक माना गया है। मनुष्य कर्म का नेता है। कर्म को वह अनुशासित करनेवाला है। कर्म उसे क्या बांधेगा? गीता में भगवान ने कहा ही है—**न मां कर्माणि लिपन्ति**। नर भी उसी का अनुभव लें।

* *

क्रियावान् एषः ब्रह्मविदां वरिष्ठः (मुंडक 39) आत्मवेत्ताओं में भी क्रियावान आत्मवेत्ता श्रेष्ठ होता है। अर्थात् आत्मविद्या को भी उपनिषदों ने क्रिया की कसौटी पर कसा है। जो आत्मविद्या क्रिया की कसौटी पर नहीं उतरेगी, वह आत्मविद्या ही नहीं। ज्ञानयोगी भी अपूर्ण होगा अगर 1. उसमें फलत्याग की दृष्टि न हो और 2. उसके ज्ञान की कर्मयोग में परिणति न दीख पड़ती हो। ज्ञानविहीन भक्ति केवल निष्क्रिय या जड़ बन सकती है। भक्तिविहीन ज्ञान केवल शुष्क, रूक्ष और क्रियाविहीन हो सकता है। क्रियाशील मनुष्य अगर भक्तिमान और ज्ञाननिष्ठ न हो तो उसमें अहंकार और आसक्ति आ सकती है। उस क्रियाशीलता में अपूर्णता रहेगी।

* *

ऋषियों की प्रतिभा को दर्शन हुआ कि परमेश्वर ने तपस्या करके विश्व की रचना की— **स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा । इदं सर्वं असृजत**। यानी समस्त कर्तृत्वशक्ति के बीज तप में है।

* *

अच्छा काम वह है जो मनुष्य अपने हाथों से करता है। दूसरों से करवायेगा तो वह परकृत हो जाता है। जो स्वकृत होता है, वह सुकृत होता है। उपनिषद कहता है, **स्वयं अकुरुत तस्मात् तत् सुकृतम्**—उसने स्वयं वह काम किया, इसलिए वह सुकृत हुआ।

* *

वेदांत देह को हमसे अलग पहचानने की अव्यवहार्य बात करता है। देह से हम अपने को अलग मानेंगे तभी हमारा व्यवहार उत्तम होगा। अन्यथा हम व्यवहार नहीं करेंगे। व्यवहार ही हमको करेगा। हम व्यवहारवश हो जायेंगे। व्यवहार के कर्ता बनने के बजाय हम व्यवहार के, कर्म के दास बन जायेंगे।

श्रुति-स्मृति-कृति—यह है उपनिषदों की थोड़े में ज्ञान-प्रक्रिया। गुरुमुख से श्रवण करना, उसका चिंतनपूर्वक बार बार स्मरण करना, उसके अनुसार कृति करके उसे कसौटी पर कसना।

•

11. शंकराचार्य का कर्मयोग

** आत्मज्ञानपूर्व कर्म, चित्तशुद्धि के लिए*

** आत्मज्ञान बाद कर्म, लोकसंग्रहार्थ*

** शमदमादि साधन के अंग के तौर पर कर्म*

** मुक्ति के लिए ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद मान्य नहीं*

** लोकमान्य तिलक का कर्मयोग*

शंकराचार्य की कर्म के बारे में क्या वृत्ति है, इस विषय में अनेकों ने चर्चा की है। तथापि यह विषय इतना सूक्ष्म है कि वह सारी चर्चा पढ़ने के बाद भी शंका कायम रह सकती है। आध्यात्मिक अनुभव का विषय होने के कारण उसका निर्णय अनुभव से ही होगा। फिर भी बुद्धि विलास के लिए चर्चा करते हैं।

शंकराचार्य को ज्ञान के पूर्व कर्मयोग मान्य है। कर्म के बिना चित्तशुद्धि नहीं, चित्तशुद्धि के बिना ज्ञान नहीं—यह उनका निश्चित मत है।

ज्ञान के बाद लोकसंग्रह आदि कारणों से जो कर्म ज्ञानी पुरुष के द्वारा होगा (वह ज्ञानपूर्वक नहीं करेगा, परन्तु उसके द्वारा होगा), उस पर शंकराचार्य का आक्षेप नहीं होगा, गीता में स्पष्ट ही कहा है। गीता के भाष्यकार होने के कारण, शंकराचार्य को वह मान्य होगा ही।

फिर वाद कहाँ है? 'मुक्ति के लिए ज्ञान और कर्म का समुच्चय चाहिए, अन्यथा मुक्ति नहीं'—तत्त्वज्ञान का यह जो पक्ष है, वह उनको मान्य नहीं है। जैसे ऑक्सीजन और हाइड्रोजन मिलकर पानी बनता है, वैसे ज्ञान और कर्म मिलने से मुक्ति प्राप्त होती है, इस विचार का

उन्होंने खंडन किया है। उनका कहना है कि मुक्ति कोई कुर्सी जैसा बनाने का विषय नहीं। कुर्सी बनानी हो, तो बढ़ई का ज्ञान चाहिए और हाथों से काम भी करना चाहिए। यानी कुर्सी बनाने के काम में ज्ञान और कर्म दोनों का उपयोग होगा। मुक्ति की ऐसी स्थिति नहीं है। वह पहचानने की चीज है। पहचान ज्ञान से ही होगी। वहाँ कर्म का प्रवेश कैसे होगा? यह उनकी दलील है। और मेरे ख्याल से वह अकाट्य है।

परन्तु मान लीजिए, ज्ञान प्राप्त हुआ है, फिर भी अभी वह आत्मसात् नहीं हुआ। पुरानी भाषा में कहना हो, तो उसका विज्ञान नहीं हुआ, अथवा साक्षात्कार नहीं हुआ। तो उस ज्ञान का विज्ञान होने के लिए मदद की आवश्यकता होगी कि नहीं? ज्ञान का विज्ञान होने के लिए सहकारी साधन नहीं चाहिए? इसके लिए उनका उत्तर है कि शमदमादि ज्ञान के सहकारी साधन होंगे। अगर उस पर कोई पूछे कि क्या शमदमादि के अंतर्गत कर्म नहीं आ सकता? तो वे कहेंगे कि शमदमादि के अंतर्गत, यानी उन्हीं के अंग के तौर पर अगर कर्म आता है, तो उसकी गिनती स्वतंत्ररूप से नहीं हो सकती। शमदम के पेट में ही वह आ गया। मैं अतिथि का स्वागत करता हूँ ऐसा कहने के बाद, 'और फूल की माला पहनाता हूं', ऐसा नहीं कहा जायेगा। फूल की माला पहनाना स्वागत में शामिल है। वह स्वतंत्ररूप से निर्देशार्ह नहीं।

कुल मिलाकर थोड़े में यह उनकी दृष्टि है। शंकराचार्य ने ज्ञानप्रचार के लिए सतत पदयात्रा की, ग्रंथ लिखे, अनेक लोगों के साथ चर्चा की, मठों की स्थापना की, अल्पायु में उन्होंने इतना परिश्रम किया कि वह ज्यादा ही था, ऐसा मेरे जैसे को लगता है। ऐसा व्यक्ति कर्मयोग का निषेध करेगा यह संभव नहीं। शास्त्रज्ञ होने के कारण अशास्त्रीय विचार को वे कहीं भी स्थान नहीं दे सकते। कर्म को प्रथम चित्तशुद्धि के लिए, बाद में लोकसंग्रह के निमित्त से और इसके अलावा, ज्ञान सहकारी के तौर पर शमदम में जगह मिलती है। कर्मयोग के लिए

उतनी जगह बहुत है। इसके भी आगे जाकर मुक्ति की बनावट में ही कर्म को दाखिल करना मुक्ति के स्वरूप की ही विडंबना होगी। उन्होंने वह नहीं होने दी।

आजकल लोग दलील देते हैं कि शंकराचार्य संन्यासवादी थे और हम कर्मयोगी हैं। कहाँ के कर्मयोगी आप ? **जिवा कर्मयोगें जनीं जन्म झाला** (अपने कर्मों के योग से जन्म पाया) ऐसे 'कर्मयोगी' हैं! निरंतर सोलह साल घूमनेवाला व्यक्ति कर्मयोगी नहीं होगा, तो कौन कर्मयोगी होगा? परन्तु चित्त पर कर्म के अहंकार का बोझ रखकर वे नहीं घूमे। उस कर्म को वे कर्म ही नहीं कहते थे। वे कहते थे कि यह तो सादा-सरल जीवन है, कोई कर्म नहीं। जिसमें दौड़धूप है, अहंकार है, जिससे चित्त पर बोझ आता है, भार लगता है, वह कर्म है। उनका कथन है कि आत्मज्ञानी कर्म नहीं करता। वह जो कुछ भी करता हुआ दिखायी पड़ता है वह कर्म का आकार मात्र है, कर्म नहीं है। क्योंकि कर्म में उसकी प्रवृत्ति नहीं है, जैसे ज्ञान होने के पूर्व रहती थी। अतः कर्म पूर्ण या अपूर्ण रहने का उस पर कोई असर नहीं होता। लोकसंग्रह का कार्य अधूरा रहा तो उसे पूरा करने के लिए आत्मज्ञानी को फिर से जन्म नहीं लेना पड़ता। ऐसी स्थिति में वह कर्म नहीं है—**न तत् कर्म**। और जब वह कर्म नहीं है, तो शास्त्रीय भाषा में यही कहेंगे कि ज्ञानी कर्म नहीं करता, यद्यपि सामान्य मनुष्य को वह कर्म करता हुआ दिखायी देता है।

ज्ञानी पुरुष के द्वारा सहज लोकसंग्रह के जो कर्म होते हैं, वे कारुण्यप्रेरित हैं और उनका उस ज्ञान पर कतई बोझ नहीं है। कर्म छाया जैसा है, उसकी अलग गिनती नहीं हो सकती। उसी तरह ज्ञानी पुरुष के कर्म कारुण्यप्रेरित हैं। जरा कल्पना करें कि जिस काल में शंकराचार्य ने इतना महान कार्य किया, बिना करुणा वह हो नहीं सकता था। उनके काल में प्रसिद्धि के साधन उपलब्ध नहीं थे। परन्तु प्रसिद्धि के अभाव में उनका कुछ बिगड़ा नहीं। उनके पास शुद्धि थी और वास्तव में शुद्धि की ही जरूरत है। हृदय में कारुण्य भरा रहने की जरूरत

है। कहने का सार यह है कि सतत सोलह वर्ष अतिश्रम करके आखिर वे अल्पायु में गये। उन्होंने अक्षरशः अपने शरीर को छिजाया, खपाया।

शंकराचार्य के कर्मसंबंधी विधान

त्वरितं किं कर्तव्यं विदुषाम्—अक्लवालों को तुरन्त क्या करना चाहिए? **संसार-संततिच्छेदः**—संसार के प्रवाह का छेद करना चाहिए। अक्ल होगी, तभी तो ध्यान में आयेगा कि शीघ्र कर्तव्य क्या है?

* *

किं मोक्ष-तरोर् बीजम् —मोक्षवृक्ष का बीज क्या है? **सम्यक्-ज्ञानं क्रिया-सिद्धम्**—क्रिया से सिद्ध, सम्यक् ज्ञान। गीता में आया है **यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थ धनुर्धरः** । इसपर गांधीजी ने लिखा, 'योगेश्वर कृष्ण यानी अनुभवसिद्ध ज्ञान और धनुर्धारी पार्थ यानी तदनुसार कृति'। वही यथार्थ ज्ञान है, जो अपनी क्रिया से सिद्ध होता है। शंकराचार्य कहते हैं—ज्ञान से मोक्ष मिलेगा । लेकिन ज्ञान मिलेगा, क्रिया के द्वारा।

* *

किं मनुजेषु इष्टतमम्—मनुष्य जन्म में अत्यंत इष्ट, करने लायक काम कौन-सा है? **स्व-पर-हितायोद्यतं जन्म**—अपने और दूसरों के हित के लिए प्रयत्न करने में जीवन बिताना। दूसरों का हित और अपना भी हित ही देखना। विवेकानंद ने कहा **आत्मनो हिताय जगतः सुखाय**—अपना हित और जगत का सुख देखो। बुद्ध ने कहा—**बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय**। तीनों में से किसी ने भी अपने सुख की बात नहीं की। लेकिन शंकराचार्य दूसरों के सुख की चिंता में फंसे नहीं।

* *

शंकराचार्य ने कहा—**तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम्**—यानी उत्तम प्रकार से अनुष्ठित किये गये अपने कर्मों से परमेश्वर की पूजा की जाये। शंकराचार्य कहते हैं कि केवल कर्म मत कीजिए, उन्हें 'अर्पण' कीजिए। फिर दूसरे श्लोक में कहते हैं—**कर्माशु संत्यज्यताम्**—कर्म को तुरन्त छोड़ा जाये। यह कर्म छोड़ने की बात कह रहे हैं तो क्या उत्पादक कर्म छोड़ने की बात है? ऐसी बात नहीं है। यहाँ जो कर्म छोड़ने की बात है वह श्रौतकर्म, यज्ञ आदि कर्म के लिए कहा है। जो कर्म देह के साथ जुड़े हुए हैं, ऐसे कर्मों का निषेध नहीं किया है।

* *

उपरमति कर्माणि—कर्मों का उपरम कराती है, वह उपरति। उपरम का अर्थ है, समाप्त हो जाना। श्रुति में जो कर्म साधन के तौर पर बताये गये हैं, उन सबका विधिपूर्वक त्याग। यह विचित्र बात है। तप करना, स्नान करना, मंत्र जप करना ये सारे साधन हैं। ऐसा जिन-जिन कर्मों के लिए श्रुति कहती है, वे सब छोड़ना, उनसे विधिपूर्वक संन्यास लेना।

* *

प्राक्कर्म यानी पूर्वजन्मों का कर्म। उसे **प्रविलाप्यताम** खतम किया जाये। पुराने कर्म का खात्मा करो। कैसे ? **चिति-बलात**-आत्मज्ञान के बल से। पूर्व पाप को खतम करें और ज्ञानप्राप्ति के बाद भी कुछ कर्म किये जाते हैं, उनसे न चिपकें। जिस कर्म से शरीर का आरम्भ हो गया, वह आरब्ध या प्रारब्ध कर्म है। उसे यहीं भोग लिया जाये।

* *

रागद्वेष का जब तक क्षय नहीं हुआ—**रागद्वेष-क्षयाभावे**, तब तक कर्म में से दोष उत्पन्न होते हैं, यह पक्की बात है। रागद्वेष नहीं गये हैं और कर्म जारी है तो उसमें से दोष का अवश्य निर्माण होगा। उसके लिए क्या उपाय है? **निःश्रेयसार्थाय** यानी जिसे निःश्रेयस् की, परम

कल्याण की कामना है, ऐसे मनुष्य के लिए **विद्या एव अन्न विधीयते**—विद्या का ही विधान है। जहाँ आपने कर्म किया, वहाँ अच्छा फल उत्पन्न होते हुए देखा, तो राग पैदा होता है। और उसका परिणाम निकलनेवाला नहीं है, ऐसा दिखायी दिया तो अरुचि पैदा होती है। हर चीज के साथ ऐसी अनुकूल-प्रतिकूल भावना पैदा होती है। कई बार मनुष्य कहता नहीं है, लेकिन चित्त पर अनुकूल-प्रतिकूल संस्कार होता ही है। उसके लिए शंकराचार्य कृपापूर्वक समझा रहे हैं कि कर्म का दोष टालने के लिए सिवा विद्या के दूसरा कोई उपाय नहीं है। वह विद्या गुरु के मुख से निकले तो ज्यादा लाभदायक है। **विद्या विधीयते** यानी यहाँ विद्या का विधान है, आदेश है।

* *

कर्म भले करो, लेकिन जहाँ तक मुक्ति का ताल्लुक है, कर्म का सीधा उपयोग नहीं। मुक्ति कोई टेबल जैसी वस्तु नहीं कि जिसको बनाना है। वह तो सूक्ष्म दृष्टि से ही हो सकती है। ज्ञान से होगी। सवाल यह है कि कर्म का उपयोग है या नहीं? है, चित्त की शुद्धि के लिए कर्म का उपयोग है—**चित्तस्य शुद्धये कर्म। न तु वस्तूपलब्धये**— (आत्म) वस्तु की उपलब्धि के लिए नहीं। चित्तशुद्धि का प्रयोजन क्या? उससे वस्तु का ज्ञान, अनुभव प्राप्त होता है। **वस्तु-सिद्धिर् विचारेण**—वस्तुसिद्धि तो विचार से होती है। चित्तशुद्धि नहीं होती। जब तक बुद्धि पर मैल ढंका रहता है, वह सूक्ष्म विचार नहीं करती।

* *

शास्त्रं ज्ञापकं न तु कारकम्—शास्त्र आपको इतना ही बतायेगा कि संकट कहां है। आपको जाना है तो जाओ, न जाना है तो मत जाओ। आपका हाथ पकड़कर नहीं ले जायेगा। लाल-हरी झंडी दिखायेगा, लेकिन हाथ पकड़कर नहीं ले जायेगा। शंकराचार्य समझाने के अतिरिक्त कुछ नहीं करते थे। वे कहते थे कि हम केवल समझाने के अधिकारी हैं, करवा लेने

के नहीं। रास्ता दिखानेवाली पट्टी, साइनबोर्ड की तरह सिर्फ मार्ग बता देना। इच्छा हो, वह जाये। इसे कहते हैं, बुद्धि-स्वातंत्र्य।

* *

शंकराचार्य ने गीता में संन्यास बताया, लोकमान्य ने कर्मयोग बताया। यद्यपि कई बातों में शंकराचार्य के विचार तिलकजी को जंचते नहीं थे, फिर भी उन्होंने लिख रखा है, 'शंकराचार्य जैसा अलौकिक तत्त्वज्ञानी दुनिया में हुआ नहीं।' तिलकजी ने गीता-रहस्य लिखा। उसमें अध्यात्म प्रकरण शंकराचार्य के विचार के अनुसार ही लिखा है। बाकी विषयों में उन्होंने शंकराचार्य का विरोध किया है।

लोकमान्य ने ज्ञान और कर्म के समुच्चय की बात कही है। मैंने लोकमान्य से पूछा था, 'क्या आप मानते हैं कि मोक्षप्राप्ति ज्ञान से होगी?' तो उन्होंने कहा था, 'हां, ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होगा।' फिर उन्होंने कहा, 'लेकिन ज्ञानी लोकसंग्रह के लिए कर्म करेगा।' मतलब, वह उनकी ज्ञानी के लिए खास सिफारिश थी। यानी ज्ञानी को वह सिफारिश जंची तो ठीक, न जंची तो वह कर्म नहीं करेगा। उन्होंने कहा, 'मोक्ष के लिए ज्ञान चाहिए और लोकसंग्रह के लिए कर्म चाहिए।' पर इतने से ज्ञान-कर्म-समुच्चय नहीं होता। समुच्चय तब कहा जाता है, जब दो चीजें मिलकर कोई एक नयी बात बनती है। H_2O यानी हाइड्रोजन और ऑक्सीजन मिलकर पानी बनता है। वैसे मोक्षसिद्धि के लिए ज्ञान और कर्म की जरूरत है, यह सिद्ध होगा तब ज्ञान-कर्म-समुच्चय की बात कही जायेगी। लेकिन मोक्ष के लिए ज्ञान ही चाहिए। लोकमान्य ने गीता में कर्मयोग माना और कहा, ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग। यानी वे ज्ञान-भक्ति को छोड़ना नहीं चाहते, लेकिन उन्होंने कर्मयोग को मुख्य मानकर बाकी सब गौण माना।

•

12. सूक्ष्म कर्मयोग

** सूक्ष्म प्रवेश*

** अभिध्यान, समाजाभिमुखता*

** कृति-शब्द-चिंतन-अचिंतन उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशाली*

** विज्ञानयुग में तीव्र नहीं, सौम्य प्रक्रिया कारगर*

अनादि काल से आज तक चिंतन की दो प्रक्रियाएं चली आयी हैं। अंत तक सेवा-कार्य करते-करते देह को छोड़ना—यह एक प्रक्रिया है। इसका उत्तम आदर्श गांधीजी ने पेश किया। मृत्यु के पांच-दस मिनट पूर्व तक वे सार्वजनिक कार्य की चर्चा करते रहे।

चिंतन की दूसरी पद्वति है कि स्थूल सेवा की एक मर्यादा है। उसके बाद सूक्ष्म में जाना चाहिए। स्थूल सेवा का लोभ, आग्रह, आसक्ति और प्रेरणा छोड़ें और सूक्ष्म में जायें। बहुत विशाल है सूक्ष्म सृष्टि। स्थूल सृष्टि से कम नहीं है। देह के रहते मृत्यु का दर्शन कर लेना चाहिए। मेरा झुकाव इस दूसरी पद्धति की ओर रहा है। 1916 में घर छोड़ा। उसे 50 साल पूरे हुए। ब्रह्म का नाम लेकर घर छोड़ा था। अब मुझे अंदर से आदेश मिला है कि जो भी सेवा बनी, वह श्री हरिगुरु-चरणों में अर्पण करके अब मैं सूक्ष्म में प्रवेश करूं। ऐसे तो जिस दिन परमेश्वर से आमंत्रण आता है, हरएक को सूक्ष्म में जाना ही होता है। लेकिन उसका परिणाम तो सूक्ष्म शरीर में पैठना भर ही होगा। इसलिए मैंने यह प्रक्रिया सोची है और उसे ध्यान, भक्ति, ज्ञान आदि नाम न देकर **सूक्ष्म कर्मयोग** की नयी संज्ञा दी है। मेरा यह विचार पुराना ही है। इस पर आज अमल करके मैं अपने को शून्यवत् पाता हूँ। अभी पूरा शून्य नहीं, 'वत्' है।

मन में विचार आया कि सूक्ष्म संशोधन होना चाहिए। विज्ञान में भी जब से आणविक शक्ति (न्युक्लीयर एनर्जी) आयी है, तब से ध्यान में आया कि स्थूल शस्त्रों के बनिस्पत सूक्ष्म

शस्त्र ज्यादा परिणामकारक होते हैं। जैसे उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में सूक्ष्म शस्त्र निकाले, वैसे ही अध्यात्म के क्षेत्र में भी सूक्ष्म-शोधन हो सकता है। उस दृष्टि से मैंने 'सूक्ष्म कर्मयोग' में प्रवेश किया है।

ध्यान, भक्ति, ज्ञान वगैरह बातें मुझे बहुत प्यारी हैं और वर्षों से ये स्थूल कर्मयोग के साथ चली भी हैं। फिर भी मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि मैं भक्ति में, ज्ञान में या ध्यान में प्रवेश कर रहा हूँ। मैं कह रहा हूँ कि 'मैं सूक्ष्म कर्मयोग में प्रवेश कर रहा हूँ।' यह नया शब्द है—'सूक्ष्म कर्मयोग।' दरअसल सूक्ष्म, स्थूल शब्द मैं न केवल कर्मयोग के लिए ही मानता हूँ, बल्कि भक्ति, ध्यान और ज्ञान के पीछे भी जोड़ता हूँ। मेरी अपनी परिभाषा है कि ये सब स्थूल होते हैं और सूक्ष्म भी।

सूक्ष्म कैसे? दीपक की ही उपमा लीजिए। छोटा-सा दीपक रात को घर के सभी लोगों को सब तरह के कामों में मदद देता है। पर उनमें से किसी भी काम में स्वयं भाग नहीं लेता। वह स्वयं कोई क्रिया नहीं करता। फिर भी लोगों की जो सारी क्रियाएं चलती हैं, उनमें तटस्थरूप से उसके प्रकाशदान की मदद मिलती है।

सूक्ष्म में प्रवेश का महत्त्व आकाशवत् होने में है। आकाश में प्रकाश है। प्रकाश के लिए सहूलियत है। लेकिन आकाश न प्रकाश से चिपकता है, न उसमें जो हलचलें होती हैं, उनके साथ मर्यादित बनता है। स्थूल कामों में चित्त विशिष्ट बनता है, इसलिए उससे सूक्ष्म-प्रवेश में मदद नहीं मिलती। इसलिए चित्त आकाशवत् होना चाहिए। एक बाजू से अनंत, दूसरी बाजू से शून्य। ऐसा होने से 'अकर्म में कर्म' का जो विचार है, उसकी अनुभूति आ सकती है।

सूक्ष्म कर्मयोग में समाज को छोड़ देने का खयाल नहीं है, बल्कि समाज के अभिमुख होकर उसमें प्रवेश करना है। इसलिए मैंने शब्द ढूंढ़ा है—अभिध्यान। वह मेरा अपना शब्द नहीं है, शास्त्र का है। अभिध्यान यानी सृष्टि को सामने रखकर, भुवनाकार में भगवान का ध्यान

करना। आंखें बंद करके, सृष्टि-समाज से विमुख होकर ईश्वर का ध्यान करने का भी एक तरीका है। अभिध्यान में सृष्टि को सामने रखकर उसमें ईश्वरीय स्वरूप का ध्यान करना है। विमुख नहीं, अभिमुख होना है। लोकाभिमुख होकर ध्यान करना है। यह जो अभिध्यान है, वह सूक्ष्म कर्मयोग है। और मेरी श्रद्धा है कि जो काम स्थूल कर्मयोग से नहीं हुआ, वह सूक्ष्म कर्मयोग से होना चाहिए।

ध्यान से चित्त में शांति होती है, वैसे ही सामूहिक ध्यान होगा तो समूह के चित्त को शांति मिलेगी। लेकिन विश्वभर में जो उपद्रव चल रहे हैं, उन सबको शांत करना हो, तो ध्यान करनेवाला अत्यंत निरहंकार, परिपूर्ण शून्य होना चाहिए। ऐसा एक भी व्यक्ति दुनिया में हो, जिसका चित्त दुनिया के अभिमुख है और जिसके चित्त में अहम् लेशमात्र नहीं है, जो पूर्ण शून्य है, तो उसका असर पड़ सकता है और दुनिया में जो उपद्रव चलते हैं, वे शांत हो सकते हैं। लेकिन नंबर एक, वह व्यक्ति दुनिया के अभिमुख होना चाहिए और नंबर दो, उसमें अहम् का लेश भी न हो, वह पूर्ण शून्य हो।

अहम् का लेश भी न होना कठिन है। क्योंकि बिना अहम् के शरीर टिकता ही नहीं। अहम् नहीं रहेगा, तो शरीर एकदम गिर ही जायेगा। वह सूक्ष्म अहम् है। उसके बारे में मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं आपका ध्यान उस अहम् की तरफ खींचना चाहता हूँ, जिससे ममत्व, 'मेरा-तेरा' भाव पैदा होता है। बापू ने भी यही कहा था कि एक भी सत्याग्रही हो, जो पूर्ण निरहंकारी हो, तो उसका असर दुनिया पर होगा।

इस तरह सत् -क्रियायोग का अभिध्यान करना और स्वयं केवल विद्यमान रहना—यह है सूक्ष्म कर्मयोग। जब यह उत्तरोत्तर अधिक सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम होता जायेगा, तब गणित की परिभाषा के अनुसार जिस दिन वह 'जीरो' (शून्य) होगा, उस दिन फल अनंत होगा। वह शून्य से जितना दूर रहेगा, फल में उतनी अनंतता कम रहेगी।

यह चीज ऐसी है कि इसका कोई नाटक नहीं हो सकता। वह अवस्था आनी चाहिए। वह लायी नहीं जा सकती, खुद आ जाती है। वह लाने की नहीं, आने की चीज है। उससे अहम् कम होगा, विकार क्षीण होंगे, हृदय शुद्ध होता जायेगा। शुद्ध हृदय से किया हुआ संकल्प भी सापेक्षतया कम शुद्ध हृदयवालों के द्वारा किये हुए कर्मों से अधिक कारगर होगा।

क्षेत्र छोटा रहा, तो कुछ विशिष्ट स्थूल कार्य कर सकते हैं। क्षेत्र जितना व्यापक होगा, हमारा कार्य उतना भावनात्मक रहेगा। झाड़ू लेकर किसी एक विशिष्ट स्थान की सफाई हो सकती है। किंतु स्वच्छ विश्व का कार्य मानसिक रहेगा। जहाँ हमारे पैर होते हैं, उस स्थान के लिए शारीरिक काम और शेष विश्व के लिए मानसिक काम। मन में गंदगी न रखें तो विश्व की स्वच्छता का काम किया, ऐसा कहा जा सकता है।

विश्वशांति का सर्वोत्तम साधन है, अपने मन को विश्व के साथ तद्रूप बनाना। कर्म जितना कम होगा, और आत्मिक भावपूर्वक ध्यान जितना बढ़ेगा, उतना वह काम सुलभ होगा। छोटे क्षेत्र में कर्म की ताकत अधिक और शब्द की ताकत कम होती है। क्षेत्र बड़ा हो तो कर्म से वाणी अधिक असरकारक होगी और उससे भी अधिक असर होगा मौन का।

क्रिया कम करने के साथ अहम् को भी शून्य करना होगा। अहम् शून्य नहीं होगा, तो सूक्ष्म कर्मयोग निकम्मा हो जायेगा। हृदय बहुत छोटा-सा है। उसमें या तो आप रहें या भगवान रहें। सूक्ष्म कर्मयोग यानी खुद हटकर भगवान को अंदर आने देना। अब तक आप अपनी शक्ति से काम करते थे, अब आप भगवान की शक्ति से काम करेंगे।

मनुष्य में वासना का आवेग होता है और उस कारण 'करना' आवश्यक-सा लगता है। तो स्थूल कर्मयोग लाचारी की बात है। किंतु जीवन में ऐसी भी अवस्था आनी चाहिए जब स्थूल क्रिया की जरूरत न रहे और सूक्ष्म भावशक्ति से काम होता रहे। मुझे विश्वास है कि चिंतन से और ध्यान से बहुत कुछ सेवा हो सकती है। प्रत्यक्ष कार्य से जितनी सेवा होती है, उससे बहुत अधिक सेवा चिंतन और ध्यान से हो सकती है।

सामान्य स्तर से सोचेंगे, तो लगेगा कि चिंतन से ज्यादा शक्ति वाणी में है और वाणी से ज्यादा शक्ति क्रिया में है। लेकिन जहाँ चित्त शून्य हो जाता है, वहाँ क्रिया से ज्यादा शक्ति वाणी में और वाणी से ज्यादा शक्ति चिंतन में आती है। चित्त शून्य हो जाये, तो एक-दूसरे को संदेश एकदम पहुंच जाता है, देह की जरूरत नहीं पड़ती— यह सूक्ष्म-प्रवेश का अर्थ है।

कृति सबसे कमजोर अवस्था है। कृति न करते हुए केवल शब्द से काम करना उससे ऊपर की स्थिति है। और, शब्द की भी आवश्यकता न पड़े, केवल भाव से ही काम हो जाये, तो वह सबसे ऊँची अवस्था मानी जायेगी। यदि किसी काम को अधिक परिणामकारी और दुनिया में अधिक व्यापक करना हो, तो वह स्थूल क्रिया से संभव नहीं है। सत्-कृति जितना उपकार कर सकेगी उससे ज्यादा उपकार सत्-शब्द कर सकेगा। सत्-कृति के लिए शुद्ध प्रेरणायुक्त प्राण चाहिए। वही सत्-शब्द के लिए लागू है। लेकिन सत्-शब्द की शक्ति सत्-कृति से अधिक स्थायी होगी, अधिक व्यापक होगी। लेकिन सत्-कृति को समझना-करना, उसका मूल्यांकन करना जैसे स्थूल कार्य है, वैसा शब्द के बारे में नहीं है। इसलिए शब्द के ग्रहणकर्ता, ज्ञाता कम होंगे, परंतु परिणाम में वह अधिक होगा।

इसी तरह चिंतन, शब्द से अधिक सूक्ष्म, अधिक व्यापक, अधिक शक्तिशाली, अधिक परिणामकारण होगा और होना चाहिए। शब्द का माध्यम या कृति का माध्यम काम में लाने से उस चिंतन की शक्ति जितनी प्रकट होगी, उससे ज्यादा ढंक जायेगी। चिंतन के साथ कुछ बोलने या करने की प्रेरणा होती है, वह न हो तो भाप (स्टीम) की तरह उसकी शक्ति प्रकट होगी। भाप बायलर में रुकी रहती है इसलिए उसकी शक्ति प्रकट होती है, वैसे ही चिंतन अगर अंदर रुका रहेगा, शब्द या कृति से बाहर नहीं निकलेगा, तो अधिक शक्तिशाली होगा।

हम लोग हमेशा कहते और सुनते आये है, धर्मग्रंथों में भी कहा गया है कि शब्द से कृति श्रेष्ठ है और शायद चिंतन से भी श्रेष्ठ है। यह लगभग सर्वमान्य विचार है। मैंने भी कई वर्षों तक

इस तरह से सोचा। फिर यह भी सोचा कि क्या यह जो सर्वमान्य विचार है, उससे कुछ भिन्न वस्तु मुझे सूझती है? जो कुछ सूझा, उसे शब्द में रखने की कोशिश भी मैंने की। लेकिन अब, उस पर अमल करने की कोशिश कर रहा हूँ। मुझे लगा कि कृति से शब्द श्रेष्ठ है, और शब्द से चिंतन बहुत श्रेष्ठ है, शक्तिशाली भी ज्यादा है। दुनिया में उसका असर भी व्यापक ही होगा। उससे भी अधिक शक्ति अचिंतन में है। कृति से शब्द, शब्द से चिंतन, चिंतन से अचिंतन उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशाली है।

यह जो सोचने की प्रक्रिया है, वह हमें और आगे ले जाती है कि चिंतन से भी अचिंतन में अधिक शक्ति है। उसका अंदाजा अभी तक लगा नही, माप मिला नहीं। लेकिन वह असीम है। जैसे बैलेस्टिक वेपन है। उसका प्रयोग एक ही स्थान पर बैठकर भिन्न-भिन्न दिशाओं में किया जा सकता है। लेकिन यह जो अणु है, उसकी शक्ति स्फोट में प्रकट होती है। अगर स्फोट न हो तो उसकी शक्ति प्रकट नहीं होगी। अचिंतन की शक्ति उससे भिन्न होगी। स्वाभाविक स्फोट से वह सीमित होगी। जो ईश्वर-शक्ति काम करती है विश्व में, उसको मानना ही पड़ता है, क्योंकि उसका हरएक को अनुभव आता है—वह ईश्वर के अचिंतन में रही है।

अध्यात्म के क्षेत्र में तो सूक्ष्म शोधन होना चाहिए। मेरा विश्वास है कि विज्ञान इतना बढ़ रहा है कि विश्व की सेवा के लिए विश्व में घूमना नहीं पड़ेगा। इसलिए एक ऐसी अव्यक्त भावना मन में रही है कि जैसे बैठे-बैठे बैलेस्टिक वेपन्स का उपयोग करने की क्षमता निर्माण हुई है, वैसे ही किसी छोटे-से कोने में बैठकर वहां से समग्र विश्व को प्रभावित किया जा सकता है।

मेरा अपना विश्वास है कि सूक्ष्मरूपेण बहुत काम किया जा सकता है। जो अपनी वासनाएं निःशेष करके परमात्मा की सृष्टि में लीन हो गये, वे सूक्ष्मरूपेण बहुत मदद करते हैं। मुझे अपने काम में उन अनेकों की मदद मिली है, जो आज यहाँ हाजिर नहीं हैं और अव्यक्तरूपेण काम कर रहे हैं। मैं अपने अनुभवों से समझ गया हूँ कि सूक्ष्मरूपेण बहुत काम होता है।

पश्चिमी लोग बाह्य क्रियाशीलता में विश्वास रखते हैं। मैंने उनसे कहा कि अब मैं बाह्य कार्यशीलता छोड़कर सूक्ष्म आंतरिक कार्यशीलता प्रारंभ करनेवाला हूँ। कार्यशीलता के बिना भौतिक जीवन नहीं सुधर सकता, परन्तु कुछ उच्च शक्तियाँ हैं जो समाज पर प्रभाव डालती हैं, जिसे मैंने सूक्ष्म कर्मयोग नाम दिया है। यह एक प्रकार की सूक्ष्म सक्रियता है, जिसमें मनुष्य शरीर और मन से ऊपर उठकर भगवान से तादात्म्य प्राप्त करता है, जो सबका प्रारम्भकर्ता है और कार्यशीलता का स्रोत है। यदि हमें वह स्रोत प्राप्त हो जाता है, तो सभी कुछ प्राप्त हो जाता है।

सशरीर (जीवित) ईसा से, फांसी चढ़े ईसा अधिक शक्तिशाली हैं। इसीलिए संेंट पॉल ने कहा है कि **वी प्रीच क्राइस्ट क्रूसीफाइड**—हम क्रूस पर चढ़े ईसा का उपदेश सुनाते हैं। फांसी चढ़ने के बाद ईसा सूक्ष्म अंतरजगत् में प्रवेश कर गये और उसी के कारण सारे वातावरण को प्रभावित कर रहे हैं। अहंकार कार्यशीलता बढ़ाता है, परंतु कार्य की शक्ति घटाता भी है। इसलिए अहंकार के हट जाने पर भगवान हमारे जरिये काम करता है। वह कार्य कर ही रहा है, परंतु हम अपनी तथाकथित सक्रियता से उसमें बाधा डालते हैं। मैं सक्रियता के विरुद्ध नहीं हूँ। प्रारम्भिक अवस्था में सक्रियता की आवश्यकता होती है, परंतु उच्चावस्था में नहीं।

एक बात सब लोगों को ध्यान में लेने की है कि यह जो सूक्ष्म प्रक्रिया है, जिसको मैंने सौम्य प्रक्रिया भी कहा है, हरएक के लिए जरूरी है। इन दिनों लोगों का अधिक-से-अधिक विश्वास तीव्र प्रयत्नों पर होता है, तीव्र क्रियाओं पर होता है। जहाँ-तहाँ आप सुनेंगे, कहीं कुछ प्रदर्शन हो रहा है, कहीं जुलूस निकल रहे हैं, कहीं मारपीट चल रही है, यानी ऊधम मचा रहे हैं। कुल दुनिया में यह खयाल है कि कुछ-न-कुछ उधम करते हैं तो ताकत पैदा होती है, दुनिया का ध्यान खिंच जाता है। तीव्रता प्रकाशित होती है तो उसका दुनिया पर असर होता है, ऐसा

मन में बैठ गया है। लेकिन यह बिलकुल गलत है। इस आणविक युग में कहीं भी चित्त में क्षोभ होने देना ठीक नहीं है। मैं समझाना यह चाहता हूँ कि इस युग में दुनिया पर असर करनेवाली प्रक्रिया वह होगी, जो सौम्यतम होगी और जिसमें आपका हृदय अत्यन्त शुद्ध होगा। हृदयशुद्धि का जो असर पड़ेगा, वह क्रिया (ऐक्टिविटी) का नहीं पड़ेगा।

मैं चाहता हूँ कि चित्त अत्यंत शुद्ध हो। जितना हो सकता है, चित्त को उतना निरहंकार, शुद्ध करने की कोशिश की जाये। यह भगवत्कृपा से होता है, मानवीय प्रयत्न से नहीं होता, लेकिन प्रयत्न के बिना भी नहीं होता। तो जितना हो सके, चित्त शुद्ध करें और दुनिया के अभिमुख रहें। प्रत्यक्ष क्रिया से जितना होता है, उससे ज्यादा परिणाम इससे होना चाहिए, ऐसा मेरा विचार है।

•

13. क्रियोपरमे वीर्यवत्तरम्

** कर्म और क्रिया में अंतर*

** क्रियाशून्यत्व से अनंत कर्म*

** आत्मज्ञान बढ़ेगा, क्रिया का आकार घटेगा*

** बाह्य क्रिया में नहीं, भावमूल्य में शक्ति*

** क्रिया के साथ अंह को भी शून्य करना*

साम्यसूत्र कहता है—**क्रियोपरमे वीर्यवत्तरम्**—क्रिया जितनी कम होती जायेगी, उतना ही कर्म वीर्यवान बनता जायेगा। जब तक मानसिक शक्ति क्रिया द्वारा ही प्रकट हो सके (यहाँ मानसिक शब्द मैंने सूक्ष्म अर्थ में लिया है, स्थूल नहीं), तब तक क्रियाएं आवश्यक होंगी। लेकिन जब तक यह आवश्यकता रहेगी, तब तक आपके कार्यों के परिणाम सीमित ही रहेंगे। क्रिया द्वारा प्रकट होने के कारण उनका सीमित रहना स्वाभाविक ही है। लेकिन जैसे-जैसे यह आवश्यकता कम होती जायेगी और क्रियाएं शांत होती जायेंगी, वैसे-वैसे कर्म बलवत्तर होगा।

देह के होते सब क्रियाओं से मुक्त होना संभव ही नहीं है। खाना, पीना, सोना इत्यादि शारीरिक क्रियाएं तो चलेंगी ही। इसके अलावा थोड़ा बोलना, सुनना भी चलेगा। परन्तु ऐसी प्रक्रिया हाथ में आनी चाहिए कि कम-से-कम क्रिया में ज्यादा-से-ज्यादा ताकत पैदा हो। वह हृदयशुद्धि से होगी। हृदय प्रेम से भरा रहेगा, तब होगी। माँ बच्चे को समझाने के लिए थोड़ा-सा बोलती है, उसका बच्चे पर एकदम असर होता है, क्योंकि माँ का हृदय प्रेम से भरा रहता है। केवल बाहरी हलचलों से कर्म नहीं होता। क्रिया जैसे-जैसे सूक्ष्म में जाती है, वैसे-वैसे कर्म बढ़ता है।

मेरी अपनी कुछ श्रद्धा है, उसके अनुसार मैं चलता हूँ। मानता हूं कि यह स्थूल कर्मयोग कभी खुद ही खतम करना होगा, अन्यथा वह खतम होगा ही नहीं। हमको ऐसी खोज में दिलचस्पी है, जिसमें चित्त के साथ कोई संबंध न हो, चित्त से ऊपर उठी हुई 'उन्मन' शोध हो। चित्त को, देह को, समाज को अलग करके चित्त को चैतन्य बनाना चाहिए। वह एक बहुत बड़ा कार्यक्रम है। मेरी अपेक्षा यह है कि पूर्ण में, चैतन्य में जाने के बाद कर्मयोग क्षीण नहीं होगा, बल्कि 'वीर्यवत्तर' होगा। उत्तरोत्तर क्रिया कम होती जाये, उत्तरोत्तर कर्म बढ़ता जाये।

कर्म और क्रिया में जो अंतर है, उसे समझ लें। क्रोध आने पर कोई बहुत बोलकर और कोई बिलकुल न बोलकर अपना क्रोध प्रकट करता है। ज्ञानी पुरुष लेशमात्र भी क्रिया नहीं करता, किन्तु कर्म अनंत करता है। उसका अस्तित्वमात्र ही अपार लोकसंग्रह कर सकता है। उसकी क्रिया सूक्ष्म होती जाती है और कर्म बढ़ते जाते हैं। विचार की यह धारा आगे ले जायें एवं चित्त परिपूर्ण शुद्ध हो जाये, तो अंत में क्रिया शून्यरूप होकर कर्म अनंत होते रहेंगे, ऐसा कह सकते हैं। पहले तीव्र, फिर तीव्र से सौम्य, सौम्य से सूक्ष्म और सूक्ष्म से शून्य, इस तरह अपने-आप क्रियाशून्यत्व प्राप्त हो जायेगा। परंतु तब अनंत कर्म अपने आप होते रहेंगे।

आज विज्ञान के कारण अज्ञात के दरवाजे खुले रहे हैं। पहले जो काम दस सालों में होता था, आज दस मिनट में होने लगा है। पहले दस साल में पृथ्वी में जितना घूम सकते थे, आज दस मिनट में उतना संचार होता है। मनुष्य के पराक्रम से आज हिमालय जैसा बड़ा पहाड़ बौना हो गया है, पैसिफिक जैसा विशाल समुद्र छोटा हो गया है। आज अगर सोचने बैठेंगे तब सामने पूरे विश्व का नक्शा रहेगा इसलिए हम जो काम करेंगे उसका भावमूल्य विश्व से कम न होगा। 'भावमूल्य' शब्द का मैंने विचारपूर्वक इस्तेमाल किया है। विश्वयुद्ध के बाद परिस्थिति बदली और नयी-नयी शक्तियों का उदय हुआ। परिणामस्वरूप, पिछले कुछ सालों से क्रियामूल्य कम् हुआ है, भावमूल्य बढ़ा है। गांधीजी ने सत्याग्रह किया। उस पुराने सत्याग्रह में

भावन का महत्त्व तो था ही, क्रिया का भी महत्त्व था। अब आगे जो कोई सत्याग्रह होगा, वह भावप्रधान रहेगा और उसमें क्रिया एकदम गौण रहेगी। जैसे कि होम्योपैथी की दवाई। उसमें औषधि की मात्रा कम-से-कम रहती है, शक्कर की मात्रा ज्यादा से ज्यादा रहती है। उसकी पोटेन्सी बढ़ानी है तो शक्कर बढ़ाते जाना और घोंटते जाना होगा। शक्कर जितनी बढ़ेगी, औषधि की मात्रा उतने प्रमाण में कम होती जायेगी। परन्तु उसे घोंटते जायेंगे तो परिणाम बढ़ेगा, तीव्र परिणाम आयेगा। उसमें जो औषधि है, वह क्रिया है और जो शक्कर है, वह भाव है। जितनी भावशुद्धि अधिक होगी, उतना कार्य अधिक परिणामकारी होगा। क्रिया कम होती जायेगी और भावशक्ति बढ़ती जायेगी।

ज्ञानदेव ने ज्ञानी पुरुष का वर्णन करते हुए कहा है—**तयाची क्रिया ढाळे ढाळे गळित आहे**, अर्थात् उसका आत्मज्ञान जैसे-जैसे बढ़ता जायेगा, क्रिया धीरे-धीरे कम होती जायेगी, शर्करांश बढ़ता जायेगा, औषधि की मात्रा कम होती जायेगी। अब दिन आ गये हैं जब हमारे कार्य का आकार, क्रिया की व्यापकता, उसके लिए की जानेवाली दौड़-धूप, धांधल-धमाल सबका महत्त्व कम रहेगा और उसमें कितनी भावशुद्धि अधिक है, उसका महत्त्व ज्यादा रहेगा। हमको अपने कार्य के बारे में अंदर से अनुभूति आनी चाहिए कि मेरे द्वारा जो कुछ हो रहा है, वह दीखने में भले छोटा है, किन्तु वास्तव में महान है, छोटी आकृति में बड़ी प्रकृति समायी है। शालिग्राम छोटा-सा होता है, किन्तु पूरा ब्रह्मांड उसमें समाया है, इस भावना से हम उसकी पूजा करते हैं तो वह विश्वात्मा की पूजा हो जाती है। वैसे ही हमारी कल्पना की व्याप्ति होनी चाहिए। इस प्रकार हम जो काम करते हैं, उसके द्वारा पूरे विश्व के साथ एकरूप होते हैं। उदाहरणार्थ खादी-कार्य लें। क्या उसमें हमें करुणा दीखती है? समता दीखती है? प्रेम दीखता है? अगर उसमें हमें करुणा-समता-प्रेम दीखते हैं, तो खादी का भावमूल्य बढ़ेगा। हमें हमारी चीज का भाव बढ़ाना है, तो सोचने की बात हो जाती है कि हम जो कुछ करते हैं, हमारे पास जो साधनसामग्री है, उसका भावमूल्य क्या है? नयी मिलें खुल रही हैं, उनके लिए बड़ी-बड़ी

योजना और बड़े-बड़े बजट हैं, और उसकी तुलना में हमारी खादी कहाँ रहेगी—अगर ऐसा विचार मन में आया तो समझना होगा कि खादी का मूल्य हमें समझ में नहीं आया। खादी का बहुत बड़ा भावमूल्य है। परस्पर सहयोगी और अविरोधी समाज-रचना करने का वह प्रयोग है। दीखने में चाहे छोटी दिखे, वास्तव में वह बड़ी बात है।

तो जिसमें क्रिया की तीव्रता कम हो और विचार की प्रक्रिया अधिक हो ऐसी सौम्य प्रक्रिया, ऐसी कार्य पद्धति हमें धीरे-धीरे अपनानी होगी। अगर हम अधिक विचारपरायण बनें और क्रिया की मर्यादाओं को ठीक-ठीक समझें तो अहिंसा अधिक फैलेगी। तब हमारे कार्य का मूल्य बाह्म क्रिया पर निर्भर नहीं रहेगा, बल्कि उसका जो भावमूल्य होगा, उसमें शक्ति होगी। यह बात हमेशा के लिए सत्य है। लेकिन इस युग के लिए विशेष सत्य है। आणविक युग में लड़ाई में भी क्रिया का मूल्य कम हुआ है और सूक्ष्म शक्ति काम करने लगी है। आध्यात्मिक और सामाजिक क्षेत्र में भी ऐसी शक्तियां या साधन हाथ में आने चाहिए, जिसमें कम-से-कम क्रिया में, ज्यादा-से-ज्यादा कार्य निकले। क्रिया कम करने के साथ-साथ अहं को भी शून्य करना होगा। अहंकार है इसलिए हम सीमित हैं। अहंकार छूट जायेगा तो हम उत्तरोत्तर समाजमय, विश्वमय, परमात्ममय होते चले जायेंगे।

•

14. कर्म और भक्तिध्यानादि-

** कर्म और भक्ति*

** कर्म और ध्यान*

** कर्म और ज्ञान*

** कर्म और स्वाध्याय, चिंतन*

** आत्मज्ञानी का कर्म*

कर्म और भक्ति

कर्मयोग का भक्ति के साथ योग, यह बात प्राचीन काल से चल रही है। कर्मयोग में इतनी नम्रता होनी चाहिए कि वह भक्ति की शरण में जाकर उसका आश्रय ले। भक्ति को इतना वत्सल होना चाहिए कि वह कर्मयोग को अपना पोषण दे। भक्ति मातृस्थान में है, कर्मयोग पुत्र है। माता पराक्रम का कार्य अपने पुत्र के जरिये कराती है और स्वयं उसको पोषण देती है। सदाचार करते-करते भक्ति का रस जगे, ऐसी अपेक्षा रहती है। कर्मयोग कितना भी तीव्र हो, भक्ति के लिए बाधक होने का कारण नहीं, बल्कि वह उत्तम साधक हो सकता है।

सत्कर्म पाप-प्रवृत्ति को दबाने में समर्थ है। परन्तु उसमें पुण्य का अहंकार मिटाने की शक्ति नहीं है। स्वयं सत्कर्म में यह ताकत नहीं कि वह सत्कर्म का अहंकार पैदा न होने दे। सत्कर्म करने से जो अहंकार पैदा होता है, उसे उपासना से मिटाना है। उपासना यानी भगवद्भक्ति से चित्त को धोना। वह मनुष्य को नम्र बनाती है। कर्मयोग चित्त का अन्न है और उपासना चित्त का स्नान है। अन्न के साथ-साथ शरीर-मन की स्वच्छता भी जरूरी है। अक्सर होता क्या है? कर्मयोग को उपासनामय बनाने के बदले हम उपासना को ही कर्म बनाते हैं।

उपासना को कर्म बनाने से विकर्म की खूबी चली जाती है। अहंकार और दंभ छोड़कर निष्कपटभाव से उपासना करते हैं, तब चित्त शुद्ध होता है। चित्तशुद्धि ही उपासना का उद्देश्य है।

हमारे यहां गत सैकड़ों वर्षों से यही कल्पना रूढ़ है कि कर्म से मनुष्य को छुट्टी पानी चाहिए। निवृत्तिमार्ग को लीजिए या भक्तिमार्ग को, कर्म को टालना ही सच्ची भक्ति या सच्चे ज्ञान का रूप माना गया है। परन्तु कर्म किये बिना छुटकारा नहीं। उसके बिना जीविका चलना कठिन है। कर्म के बिना आदमी दूसरों के लिए बोझ बन जाता है। कर्म को टालना या उससे जैसे-तैसे करके छुट्टी पा लेना और इसी में आध्यात्मिकता मानना मेरी दृष्टि में विचारदोष है।

भक्तिहीन कर्मयोग व्यर्थ है। यह बात भक्तिमार्ग में सदा कही जाती है। लेकिन कर्मयोगरहित भक्ति काम की नहीं, ऐसा अक्सर नहीं कहा जाता। असम के संत माधवदेव कहते हैं कि भक्ति के अलावा और भी कुछ कर्तव्य हैं। उन्हें छोड़कर जो भक्ति की जाती है, वह भगवान को प्रिय नहीं। अक्सर नाम के सापेक्ष नीति और तत्त्वज्ञान को गौण मानते हैं। माधवदेव कहते हैं कि जिसने श्रुति-स्मृति अनुसार व्यवहार नहीं किया, उसने भगवान की आज्ञा का भंग किया, भगवान के प्रति द्वेष ही किया। भक्ति भी चाहिए और शास्त्रीय कर्मयोग भी चाहिए।

भक्ति के साथ अकर्मण्यता नहीं टिकती, यह बात सभी संतों के अनुभव पर निश्चित है। जहाँ भक्ति का भी टिकाव न लगे, ऐसी अंतिम अवस्था में कर्म गिर पड़े, यह संभव है। लेकिन उस अवस्था में तो शरीर ही गिर जाने की बात है।

जब और जहाँ मनुष्य की पुरुषार्थशक्ति कुंठित होती है, टूट जाती है, वहाँ भक्ति आवश्यक हो जाती है। परिपूर्ण प्रयत्न किये बिना भक्ति के लिए गुंजाइश नहीं है। ईश्वर ने हमें जो शक्ति दे रखी है, उसका पूरा-पूरा उपयोग करने में ही हमारी नम्रता और आस्तिकता है। हमारी बुद्धि का यथामति, यथाशक्ति उपयोग करके फिर हम भगवान से मांग कर सकते हैं।

लेकिन पहले हमारी शक्ति का हमें उपयोग करना है। पूरा प्रयत्न होने के बाद जहाँ और मदद की जरूरत होगी, वहाँ भगवान आयेगा। भगवान एक बैंक है, जहाँ हमारी पूँजी रखी हुई है। कुछ तो उसने हमें दे रखी है। पहले उसका पूरा उपयोग होना चाहिए। उसके बाद भगवान का स्मरण होता है, तो वह एक हार्दिक वस्तु है, साक्षात् अनुभव है।

भक्ति के बिना ज्ञान-कर्म की नहीं चलेगी। पर ज्ञान-कर्म के बिना भक्ति की चलेगी। कर्म से सेवा होगी, तो चित्तशुद्धि होगी, वह मददगार होगी। लेकिन भक्ति नहीं होगी तो केवल कर्मशक्ति से काम नहीं चलेगा। कर्मशक्ति के बिना भक्ति का चल जायेगा। क्योंकि कर्मशक्ति शरीर पर अवलंबित है। कमजोर शरीर से कर्म नहीं होगा, पर उससे भक्ति हो सकती है।

भक्ति हमें कर्मफल के भय से बचाती है। कर्ममार्ग में कर्म का प्रतिफल मिलता है। भक्तिमार्ग में परमेश्वर से क्षमा मांगी जाती है। तो क्या भक्ति से कर्म के फल टल जाते हैं? नहीं, भक्ति से कर्म का अटल नियम टल नहीं सकता। भगवान कर्म का फल भोगने की हिम्मत और धीरज देते हैं। भले-बुरे कर्म का फल टलेगा नहीं, पर उसका परिणाम चित्त पर न हो, इतना धीरज आ आयेगा। भक्ति का अर्थ यही दृढ़ विश्वास है कि 'ईश्वर की योजना में हमें जो सुख-दुःख के अनुभव आते हैं, दोनों में ईश्वर की दया ही काम कर रही है। दोनों अनुभवों से हमारा भला ही होनेवाला है।' सुख-दुःख दोनों में भक्त के मन की समता कायम रहती है और वह उसे अत्यंत स्वाभाविक रीति से प्राप्त होती है, जो योगी के लिए अत्यंत कठिन है। भक्तिमार्ग में जो कुछ सुख-दुःख प्राप्त होता है, सारा हरिप्रसाद मान लिया जाता है। इसलिए वहाँ मन की समता की युक्ति सधती है, जो कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग में कठिन हो जाती है।

किसी भी कर्म में जब भक्तितत्त्व मिलेगा, तभी वह सुलभ लगेगा। 'सुलभ लगने' का अर्थ यह नहीं कि कष्ट होगा ही नहीं। उसका अर्थ यही है कि वे कष्ट 'कष्ट' नहीं मालूम होंगे, उल्टे आनंद रूप मालूम होंगे। अपार कष्ट आ पड़ने पर भी शक्ति के प्रभाव से वे कुछ भी मालूम

नहीं होंगे। पानी पर नाव को धकेलना कठिन नहीं है, परन्तु यदि उसी को धरती पर से, चट्टानों पर से खींचकर ले जाना हो, तो कितनी मेहनत पड़ेगी? नाव के नीचे यदि पानी होगा, तो हम सहज ही उसे खींच लेगें। इस तरह हमारी जीवननौका के नीचे यदि भक्तिरूपी पानी होगा, तो वह आनंद से खेयी जा सकेगी। भक्तित्व हमारी जीवननौका को पानी की तरह सुलभता प्राप्त करा देता है।

मनुष्य को विकारशमन के लिए जितनी मदद जप-तप ज्ञान आदि साधनों से मिलती है, उससे ज्यादा मदद जमीन पर परिश्रम करने और खुली हवा में कुदाली लेकर काम करने से होती है। जमीन की सेवा ईश्वरभक्ति का सबसे उत्तम साधन है। जमीन सिर्फ उत्पादन का ही नहीं, परमेश्वर-भक्ति का भी साधन है, इसका अनुभव मैंने स्वयं किया है।

कर्म और ध्यान

साधना का जो विचार आज तक हुआ, उसे परिपूर्ण नहीं मान सकते। हिंदुस्तान के लोगों के मन में अक्सर एक गलतफहमी रही है कि कर्म करना सांसारिकों का, परिवारवालों का काम है और ध्यान करना आध्यात्मिक चीज है। इस गलत खयाल को मिटाना बहुत जरूरी है।

ध्यान और कर्म परस्परपूरक शक्तियां हैं। अनेकाग्रता सधे बिना कर्म नहीं हो सकता। कर्म के लिए अनेक वस्तुओं का सावधानी से एकसाथ खयाल करना पड़ता है। उसमें एक शक्ति विकसित होती है। उससे भिन्न शक्ति ध्यान से विकसित होती है। ध्यान करते समय हम अनेक चीजों की तरफ से ध्यान हटाकर एक ही चीज की तरफ लगा देते हैं। दोनों पूरक शक्तियाँ हैं। घड़ी में अनेक पुर्जे होते हैं। उन पुर्जों को अलग करना और एक करना, इन दो प्रक्रियाओं में से एक कर्म की और दूसरी ध्यान की प्रक्रिया है। पुर्जों को अलग-अलग करने का काम तो बच्चे भी कर सकते हैं, लेकिन एकत्र करना कठिन है। जब दोनों प्रक्रियाएं सधती हैं, तब प्रज्ञा बनती है, जो निर्णयकारिणी होती है।

ध्यानयोग व कर्मयोग, दोनों की अभिन्नता कैसे सध सकेगी, अब इसके प्रयोग करने होंगे। भारत में ध्यानयोग का जितना विकास हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं हुआ। शायद सूफियों में हुआ है। लेकिन इस ध्यानयोग की साधना में एक त्रुटि रह गयी। वह साधना एकांत में, श्रमविमुख व कर्मविमुख बनकर की जाती थी। वे श्रम तो करते ही थे। बड़ा कठोर था उनका जीवन। लेकिन वे उत्पादक परिश्रम नहीं करते थे। यह माना गया था कि ध्यानयोग के लिए कर्म छोड़ना आवश्यक है। इस तरह साधकों का वर्ग श्रमविमुख बना। समाज में उत्पादक परिश्रम की प्रतिष्ठा घटती चली गयी। उन साधकों के भरण-पोषण की जिम्मेवारी समाज उठाता था। अब हम चाहते हैं कि ऐसे साधक निकलें, जो अपने भरण-पोषण का भार समाज पर न डालें। स्वयं उत्पादक परिश्रम करें।

आज तक ध्यान के लिए एक स्थान पर बैठना और बहुत-सी क्रियाओं का त्याग करना आवश्यक माना गया था। प्राथमिक अवस्था में उसकी कुछ जरूरत हो सकती है। परन्तु उससे ध्यान-प्रक्रिया का उत्कर्ष नहीं होता। उत्कर्ष तो तब होता है, जब अखंड क्रिया चल रही हो, परन्तु उसका क्रियातत्त्व मालूम न होता हो। जैसे हमारा श्वासोच्छ्वास चलता है, तो उस क्रिया से हमें कोई बाधा नहीं मालूम होती। बल्कि अगर वह समत्व-युक्त चलता है, तो उससे मदद ही मिलती है। उसी तरह शरीर-परिश्रमात्मक, शांत, सौम्य, सर्व-अविरोधी शोषणरहित उत्पादक क्रिया ध्यान के साथ-साथ चल सकती है। उससे ध्यान में खलल पहुंचने का कोई कारण नहीं।

व्यक्तिगत ध्यान की आवश्यकता है, लेकिन उससे भी अधिक महत्त्व की चीज है, हमारा सब काम ध्यानस्वरूप होना चाहिए। काम उत्तम होना चाहिए। काम करते

समय ध्यान होना ही चाहिए। चित्त की पूर्ण एकाग्रता होनी चाहिए। काम में तन्मयता

ही हमारा ध्यान है। काम ध्यानपूर्वक करें, तो सहज ही बाह्य दृष्टि से कर्मयोग और

अंदर से ध्यानयोग सधेगा।

काम-वाम न हो और ध्यान के लिए बैठे हैं तो क्या होगा? कबीर ने वर्णन किया है, माला तो कर में फिरे—हाथ में माला घूम रही है, मुख में जबान घूम रही है और चित्त घूम रहा है, दुनिया में। ध्यान के लिए आलंबन लगता है। काम ध्यान के लिए आलंबन है।

कर्म उपासनावृत्ति से होना चाहिए और साधना कर्मविमुख नहीं रहनी चाहिए। आध्यात्मिक साधन के लिए आज तक हम ध्यान-धारणादि करते आये, किन्तु उसमें शरीरश्रम को स्थान नहीं था। जैन-बौद्ध-हिंदू आदि धर्मों ने ध्यान-धारणा का उपदेश दिया। किन्तु ध्यान करनेवाला आंगन की सफाई नहीं करेगा, उत्पादन का कोई काम नहीं करेगा। आज तक ऐसे काम भिक्षु-श्रमण-साधक के लिए उचित नहीं माने गये। आज का साधक शरीर-परिश्रम नहीं करेगा तो पुराने जमाने का खंडहर होगा, इस जमाने के लायक नहीं होगा। अपरिग्रह और शरीरश्रम पर आधारित कर्मयोग ध्यानयोग के तुल्य हो जाता है।

इस उत्पादक परिश्रम को हम 'ब्रह्मकर्म' कहते हैं। साधक बाह्य सृष्टि में श्रम करता हुआ दिखायी देगा, लेकिन उसका कोई बोझ साधक के चित्त पर नहीं रहेगा। बाह्य कर्म करते हुए साधक अंतर में अखंड ध्यानमग्न रहेगा। हम सांस ले रहे हैं, इसका हमें भान नहीं रहता है, उसी प्रकार निरंतर कर्म करने पर भी साधक को उसका भान नहीं होता है। उसकी समाधि कर्म से नहीं टूटेगी। इस दिशा में ध्यानयोग की कोशिश होनी चाहिए। तब अभी तक जो ध्यानयोग चलता आया है, उसकी परिपूर्ति होगी।

कर्म और ज्ञान

मैं ज्ञान को कर्म से अलग नहीं कर सकता। उष्णता और प्रकाश सूर्य में इकट्ठा रहते हैं। चाहे कल्पना से अलग कर लें। वैसे ज्ञान और कर्म साधक के पास इकट्ठा रहते हैं। ज्ञान और

कर्म में अभेद है। कर्म से ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान से कर्म की प्रेरणा मिलती है और दोनों से जीवन सार्थक होता है।

जब ज्ञानी कहलानेवाले लोग कर्म से ऊबने लगते है या कर्म करने में शरमाने लगते हैं, तब राष्ट्र का पतन आरम्भ होता है। कर्मयोगी ही ज्ञान का अधिकारी होता है। उसे ही सच्चा ज्ञान मिलेगा। बाकी लोगों को ज्ञानरूपी अन्न पचाना कठिन है।

सारी मानवता के लिए कुछ चीजें बुनियादी होती हैं। यह ठीक है कि कोई शरीरपरिश्रम का काम अधिक करेगा, तो कोई बौद्विकपरिश्रम का, किन्तु दोनों को दोनों काम करने चाहिए। जिनके पास बुद्धिशक्ति है, वे अगर थोड़ा शरीरपरिश्रम करें तो कुछ खोयेंगे नहीं, बल्कि बहुत पायेंगे। हमारी समाज-रचना ऐसी होनी चाहिए कि हरएक मनुष्य का पूर्ण विकास हो। इसलिए हर व्यक्ति को श्रम और चिंतन, दोनों की ही प्रतिष्ठा महसूस होनी चाहिए।

हमारा यह दुर्भाग्य है कि आज सब जगह कर्म और ज्ञान, ऐसे दो टुकड़े हो गये हैं। काम करनेवाले के पास ज्ञान नहीं है। वैसे कुछ ज्ञान तो उनमें होता है, क्योंकि वे भी चैतन्यस्वरूप हैं। फिर भी उनके पास ज्ञान पहुंचाने की कोई योजना नहीं रहती। इसके विपरीत दूसरे लोग, जो बौद्धिक कहे जाते हैं, सिर्फ चिंतन किया करते हैं और कुछ भी काम नहीं करते। उनका चिंतन बेबुनियाद होता है। हमने ऐसे समाज का नाम रखा है, 'राहु-केतु समाज'। राहु वह है, जिसे सिर-ही-सिर हों, हाथ नहीं और केतु वह, जिनके हाथ-ही-हाथ हों, सिर नहीं। इस तरह 'राहु-केतु समाज' बनाना ही ईश्वर को अभीष्ट होता तो क्यों वह हरएक को सिर और हाथ दोनों देता ? उसने सबके चित्त में विचार रखे हैं और पेट में भूख भी। जैसे शब्द और अर्थ दोनों भिन्न होते हुए भी एक साथ रहते हैं, वैसे ही ज्ञान और कर्म को भी एक साथ हो जाना चाहिए। वे दोनों ताना-बाना जैसे हैं, दोनों मिलकर ही जीवन का वस्त्र बनता है। ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति के विकास का सबको समान अवसर मिलना चाहिए। इसी को हम साम्ययोग कहते है।

कर्म और स्वाध्याय-चिंतनादि

सूर्य की महिमा इसीलिए है कि वह शाम को अपनी फैली हुई सारी किरणें खींच ले सकता है, अपने में विलीन कर सकता है। यह खींच लेने की शक्ति प्रवाहपतित नेताओं या कार्यकर्ताओं में नहीं होती। वे बिखरे रहते हैं, लौटकर स्व-स्थान में नहीं आ सकते। उनको कार्य के पीछे ही जाना पड़ता है। ये कर्म-स्वामी न होकर कर्म-दास होते हैं। उस कारण अपने कर्म में जो दोष रह जाते हैं, उनकी ओर वे तटस्थता से नहीं देख सकते, परिणामस्वरूप जिस तरह काम होना चाहए, वैसे होता नहीं।

हमारा अधिकांश समय कर्म में ही चला जाता है। काम तो सतत करना ही है, लेकिन साथ ही हमारा विचारों का अध्ययन भी चलता रहे। विचार और अध्ययन की गहराई की ओर जितना चाहिए उतना ध्यान नहीं दिया जाता, तो काम निष्प्राण होता जाता है।

एक मित्र ने प्रश्न पूछा है कि हम काम में व्यस्त रहते हैं तो आध्यात्मिक चिंतन के लिए समय नहीं मिलता और उसके लिए समय दें तो उतना कम काम होता है। ऐसी परिस्थिति में क्या करें? मैंने कहा कि हम जब आध्यात्मिक चिंतन करते हैं, तब उस चिंतन से काम को मदद नहीं मिलती है और उतना समय कम काम होता है, ऐसा समझना ठीक नहीं। वास्तव में देखा जाये तो उस चिंतन से ही काम को मदद मिलती है। हम काम के प्रवाह से कुछ समय के लिए अलग होते हैं और मूल स्वरूप में जाते हैं तो उससे बहुत लाभ होता है। इसलिए अपने कर्म से थोड़ी देर अलिप्त होकर आंतरिक चिंतन करना, आत्मा में स्थिर होना और कर्म की ओर तटस्थता से देखना—यह उस कर्म की शुद्धि के लिए, पुष्टि के लिए और वृद्धि के लिए जरूरी है। अपनी चित्तशुद्धि के लिए भी उसकी आवश्यकता है। जब तक हम केवल कर्म से ही नहीं, कर्म करनेवाली इंद्रियों और मन आदि औजारों से भी अलिप्त नहीं होते, तब तक हम कमजोर

ही रहेंगे। हम प्रवाह के साथ बह जाते हैं, इसलिए बीच-बीच में खुद का शोधन करना जरूरी है।

सार्वजनिक कार्य करनेवाले गहराई से नहीं सोचते । सबको रोटी कैसे मिलेगी, यहीं तक वे सोचते हैं। दुःख का मूल खोजने की गहराई में नहीं जाते। इसलिए हमारा सार्वजनिक कार्य देखते-देखते घर-संसार जैसा बन जाता है। हमारी संस्थाओं का जीवनरस शीघ्र ही सूख जाता है, इसका एक कारण यह है कि हम कर्म में पड़े हैं। कर्म में उसके लाभ के साथ-साथ हानि भी होती है। कर्म की अधिकता के कारण हमारा विचार और तत्त्वनिष्ठा कम पड़ जाती है। शंकर, रामानुज, बुद्ध, महावीर आदि के अनुयायी आत्मज्ञान की जिन गहराइयों तक जाते थे, वहाँ हमारी पहुंच नहीं है। हमारे कामों की गठरी भारी बनती जाती है, परन्तु उसका मुख्य तत्त्व उड़ जाता है।

हम कर्मकलाप बढ़ाते हैं और उसको सेवा का साधन, संपर्क का साधन, विचार-विमर्श का साधन मानने के बजाय उसका बहुत बड़ा आडंबर खड़ा कर देते हैं और अंतःशुद्धि की ओर ध्यान कम देते हैं। जब कर्मविस्तार होता है और अंदर का सारतत्त्व कमजोर होता है, तब समझना चाहिए कि हमारे चिंतन में, हमारे जीवन में कहीं कुछ कमी है। आवश्यकता है कि कर्म को बढ़ावा तो मिलता रहे, लेकिन अंतर का तत्त्व खत्म न हो जाये।

आत्मचिंतन का संबंध अगर समाज से टूट जाता है या सामाजिक काम का संबंध आत्मचिंतन से छूट जाता है, तो उसमें दोष आ जाते हैं। समाजकार्य स्वतंत्र रूप से चले, लेकिन उसमें आत्मचिंतन न हो, तो उसमें दोष आ जाते हैं। इधर आत्मचिंतन यदि समाज-संपृक्त न रहे, तो वह उत्तरोत्तर निष्क्रिय होता जाता है। उधर क्रिया चलती है तो वह विकारयुक्त होती है और इधर क्रिया ही खंडित होती है। इस तरह यदि ये दो विभाग अलग पड़ जायें, तो दोनों का

नुकसान होता है। इसलिए जीवन के ये जो दो मुख्य अंग हैं, सामाजिक कार्य और चित्तशोधन, वे दोनों अलग-अलग नहीं होने चाहिए। उनका परस्पर संपर्क बना रहना चाहिए।

स्वाध्याय और कर्मयोग, इन दोनो के लिए समान अवकाश रखकर हम काम करें, तो मन स्थिर हो सकता है।

शोधकवृत्ति, साधकवृत्ति और सेवकवृत्ति से समाज बनता है। तीनों परस्पर-सहायक और समान-पोषक हैं। सेवक, साधक, शोधक हमारे कार्य के त्रिविध रूप हैं। हमारी ओर से कुछ सेवा होनी चाहिए। रोज कुछ साधना होनी चाहिए अर्थात् हृदयशुद्धि, आत्मशुद्धि होनी चाहिए। प्रतिदिन कुछ शोधन होना चाहिए, सुधार होना चाहिए, नयी कल्पनाओं, अनुभवों, विचारों, निरीक्षण का संग्रह होकर उससे ज्ञान प्राप्त होना चाहिए।

आत्मज्ञानी का कर्म

ज्ञानी को यह बताने की आवश्यता नहीं कि वह क्या करे, क्या न करे। समाज को जो आवश्यक हो, वह सबकुछ ज्ञानी कर सकता है। ज्ञानी का ज्ञान किसी भी प्रकार के कर्म से नहीं डरता। परन्तु वह स्वयं अधिक क्रियाएं नहीं करता। वह केवल इंद्रियों की क्रियाएं करता है। ऐसी क्रियाओं की संख्या बहुत ही थोड़ी है। गीता ने वह बतायी है—**पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्, अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन् निमिषन् अपि** । ये सारी मूलभूत क्रियाएं हैं। इंद्रियों तक उनका क्षेत्र सीमित है। ज्ञानी की '**पश्यन् शृण्वन्**' जैसी क्रिया में कोई विकार नहीं रहता। बल्कि उन क्रियाओं में भी उसके आत्मज्ञान का प्रकाश ही प्रकट होता है। आत्मज्ञानी इंद्रियों के वश में नहीं होता, अतः उसके पास विकार फटकता नहीं। प्रवृत्ति में रहते हुए भी वह उसमें आसक्त नहीं होता। वह सोता है, बैठता है, घूमता है, सुनता है, देखता है, श्रवण करता है, भोजन करता है। वह सबकुछ करता है, फिर भी विरक्त रहता है। वह भूखा नहीं रहेगा, भोजन करेगा, लेकिन उससे विरक्त रहेगा। पेट में कुछ डालना शरीर के लिए

आवश्यक है, यह ख्याल रखकर वह भोजन करेगा। उसके हाथ में कुंजी है। इंद्रियों को कितना खोलना है, यह तय करके वह उतना ही खोलता है और बाकी बंद रखता है। भागवत कहता है, सांसारिक लोगों की माफिक खड़ा रहना, बैठना, घूमना, सोना—ये कर्म ज्ञानी भी करता है। वे होती रहती हैं, पर उसे इसकी अनुभूति नहीं होती कि 'मैं कर रहा हूँ'। वह अपनी ओर से न कोई कर्म करता है, न किसी कर्म का परिणाम उस पर होता है। वह न 'कर्ता' है और न किसी का 'कर्म' बनता है।

ज्ञानी कर्म के आयोजन में नहीं पड़ता। उससे संगठन नहीं बन सकता। वह जैसे-जैसे आत्मज्ञान की ओर बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसकी संगठन की वृत्ति कम होती जाती है। राजस कर्म को गीता **बहुत्लायासम** कहती है, यानी उस प्रकार के कर्म में बहुत दौड़धूप करनी पड़ती है, जबकि सात्त्विक कर्म में कृत्रिम संगठन की जरूरत नहीं होती। ज्ञानी मंत्र देता है, तंत्र स्वयं मंत्र के पीछे-पीछे आ जाना चाहिए। तंत्र का विस्तार करना तत्त्वदर्शी का काम नहीं।

ज्ञान के बाद होनेवाला कर्म केवल आभासरूप है। परछाई के कारण मनुष्य के एकांत में कोई बाधा नहीं आती। उसी तरह छायारूप कर्म से ज्ञानी के एकांत में बाधा नहीं आनी चाहिए। ज्ञानी पुरुष के आभासिक कर्म के हेतु हैं—1. लोकसंग्रह, 2. प्रारब्धक्षय 3. साधना-वृद्धि 4. सहजानंद।

गीता कहती है—**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते**—जैसे अग्नि ईंधन को जला देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है। अग्नि पैदा होती है काष्ठ से। पोषण पाती है काष्ठ से और भस्म करती है काष्ठ को। वैसे ही कर्म से ज्ञान पैदा होता है, कर्म से ही ज्ञान पोषण भी पाता है और अंत में वह ज्ञान, कर्मों को ही जला डालता है। उस स्थिति का गौरव करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि यह तो हमारा भूषण है कि आत्मज्ञान हो जाने पर **सर्वकर्तव्यताहानिः** की अवस्था प्राप्त होकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

'कर्म में अकर्म' और 'अकर्म में कर्म' अनुभव करनेवाले ज्ञानी की अवस्था का वर्णन करते हुए गीता छह बातें बताती हैः—

1. **ज्ञानी के कर्म संकल्पवर्जित होते हैं-यस्य सर्वे समारंभाः काम-संकल्प-वर्जिताः**। ज्ञानी को कामना तो होती ही नहीं, संकल्प भी नहीं होता। संकल्प से काम (इच्छा) और काम से कर्म में मनुष्य प्रवृत्त होता है। प्रथम मन में संकल्प उठता है, फिर वासना होती है, फिर मनुष्य कर्म करता है। ज्ञानी संकल्पजन्य काम को छोड़कर उद्योग करता है और ज्ञान से कर्म जलाता है यानी नहींवत् करता है।

2. **वह कर्मफलत्यागी होता है-त्यक्त्वा कर्म-फलासंगम्**। वह परितृप्त अंतःकरण का **नित्यतृप्तः** होता है, अतः फलत्याग उसे सहज सधता है। वह कर्म में निमग्न रहता है, उसमें डूब जाता है, तन्मय हो जाता है, दिन-रात उसी में मग्न रहता है, फिर भी अनुभव करता है कि कुछ भी नहीं करता।

3. **उसके सबके सब कर्म केवल शारीरिक होते हैं-शरीरं केवलं कर्म।**

4. **वह यदृच्छालाभसंतुष्टः रहता है। यदृच्छा से**, सहजरूप से जो मिल जाये उसी में संतोष मानता है।

5. ज्ञानी यज्ञ के लिए कर्म करता है—**यज्ञायाचरतः कर्म।** किन्तु उसकी दृष्टि से वह केवल ज्ञान का ही आचरण करता है। वह जो करता है, उसमें केवल ज्ञान का ही प्रकाश रहता है। उसके सब कर्म ज्ञान के प्रयोगमात्र हैं। **ज्ञानावस्थित चेतसः**—उसकी वृत्ति ज्ञान में स्थिर हो गयी है। वह हर कर्म को ज्ञान की दृष्टि से देखता है। बीमार हुआ तो सोचेगा, बीमारी क्यों आयी। रोग से वह ज्ञान ग्रहण करेगा। उसके लिए ज्ञान और भाव प्रधान है, आकार का महत्त्व नहीं है। वह कर्म की आत्मा को देखता है, कर्म के शरीर को नहीं।

6. **ज्ञानी सारी कर्म-प्रक्रिया को ब्रह्मदृष्टि से देखता है-ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर।** उसके लिए ब्रह्म और कर्म एकरूप हो जाते हैं और वह खुद ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। ज्ञानी पुरुष में ब्रह्मधारा और कर्मधारा, दोनों का संगम होता है। दोनों मिलकर अंत में ब्रह्म में ही जाकर पहुंचती है—**ब्रहैव तेन गंतव्यम्।**

•

15. प्रवृत्तिनिवृत्ति-अप्रवृत्ति-

** प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति, दोनों से भिन्न निवृत्ति*

** प्रवृत्ति को अपने आप में पचा सके, वह निवृत्ति*

** निवृत्ति ध्रुवतारा, प्रवासमार्ग*

** प्रवृत्ति निवृत्ति के अंकुश में रहे*

** निवृत्ति यानी वृत्तिराहित्य*

** अप्रवृत्ति का त्याग, प्रवृत्ति में अलिप्तता*

प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति, दोनों से भिन्न है निवृत्ति। भगवद्गीता प्रवृत्ति को रजोगुण मानती है, अप्रवृत्ति को तमोगुण मानती है और धर्म को सत्प्रवृत्ति समझती है। इन तीनों से निवृत्ति भिन्न है। यह विचार ध्यान में न आने के कारण निवृत्ति का अर्थ भारत में अप्रवृत्ति हो गया है। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तान में जो भी आत्मचिंतन की दिशा में आता है, तत्काल काम छोड़ने की तरफ जाता है। कर्म छोड़ता है, लोकसंपर्क छोड़ता है, मौन रखता है, एकांत में जाता है या कुछ मानसिक क्रिया करता है। लेकिन समझना चाहिए कि प्रवृति जितनी जोरदार क्रिया है, उतनी ही जोरदार क्रिया अप्रवृत्ति भी है। वह प्रतिक्रिया है, स्थिति नहीं है। बहुत तीव्र वृत्ति है। प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति एक ही वस्तु के पॉजिटिव-निगेटिव रूप हैं।

यह ठीक है कि देहधारण के लिए जैसे प्रवृत्ति की जरूरत है, वैसे ही अप्रवृत्ति (निद्रारूपी) भी जरूरी है। दोनों अपनी-अपनी मात्रा में होनी चाहिए, ज्यादा बढ़नी नहीं चाहिए। मात्रा में रहे, तो देह-जीवन के लिए दोनों का उपयोग होता है। लेकिन उसे अप्रवृत्ति समझकर ही मान्य किया जाये। जहाँ अप्रवृत्ति को निवृत्ति समझकर स्वीकार किया जाता है, वहाँ मूल पर प्रहार होता है, विचार गलत दिशा में जाता है।

एक तीव्र क्रिया को, एक तीव्र वृत्ति को, एकांगी जीवन को निवृत्ति मानने का विचार ही भ्रमपूर्ण है। निवृत्ति एकांगी नहीं हो सकती। वह सब अंगों को पेट में समा लेती है। उसमें कर्म का निषेध हो ही नहीं सकता। कहते हैं कि 'वासनाक्षय के लिए कुछ करना चाहिए। इसलिए लोगों से अलग हो जायें, गुहा में जाकर रहें और ध्यान करें।' मुख्य वस्तु की पकड़ न होने के कारण हिन्दुस्तान में जहाँ आत्मचिंतन की प्रेरणा मिलती है, वहाँ लोग अप्रवृत्ति की तरफ झुकते हैं, गलत पटरी पकड़ते हैं।

प्रवृत्ति का विरोध करनेवाली निवृत्ति वास्तविक निवृत्ति नहीं है। वह प्रवृत्ति का ही एक प्रकार है। प्रवृत्ति को सहज अपने आप में पचा सके, वह निवृत्ति है।

'प्रवृत्ति' रजोगुण का लक्षण कहा गया है और 'अप्रवृत्ति' तमोगुण का। फिर करें क्या? एक ओर रजोगुण की बावड़ी और दूसरी ओर तमोगुण का कुआं! गीता ने इसमें से मार्ग बताया—अप्रवृत्ति का त्याग करो और प्रवृत्ति से अलिप्त रहो। इसको निवृत्ति कहते हैं। इसके लिए उदाहरण दिया है, कमल का। 'कमल' वैदिक धर्म का चिह्न है। कमल में पवित्रता और अलिप्तता दोनों गुण हैं।

सत्त्व-रज-तम, तीनों गुणों से अलिप्त एक अवस्था है। वह गुणातीत पुरुष की भूमिका है। उसमें किसी प्रकार की वृत्ति नहीं रहती। अतः उसे निवृत्ति कहते हैं।

समाधि अष्टांग योग का आखिरी अंग, आखिरी अवस्था नहीं है। ध्यान-समाधि भी एक वृत्ति है। हमें वृत्तियों से परे, स्वरूप में लीन होना है—उसे ही निवृत्ति कहते हैं। कर्म का अभाव निवृत्ति नहीं है। निवृत्ति तो कर्म से भी भिन्न है और कर्म न करने से भी भिन्न है। कर्म और उसके अभाव दोनों को हजम करनेवाली वृत्ति को निवृत्ति कहते हैं।

असम के माधवदेव कहते हैं—बाहर से दिखाओ कि आसक्ति से काम कर रहे हो, लेकिन अंतर से बिलकुल अनासक्त रहो। अंदर से त्याग और बाहर से संग। आसक्ति और

अनासक्ति, संग और त्याग—देखने में यह द्वंद्व दीखता है। लेकिन वह द्वंद्व नहीं है। जिसे निवृत्ति कहते हैं, वह है ध्रुवतारा। वह न रहा तो हम भटक जायेंगे। इसी दुनिया का ध्येय रहा तो रास्ता चूकेंगे। इसलिए निवृत्ति है ध्रुवतारा और प्रवृत्ति है प्रवासमार्ग।

जीवन में उद्योग रहता है तो समाज के साथ ताल्लुक रहता है। जीवन में प्रवृत्ति चाहिए लेकिन प्रवृत्ति निवृत्ति के अंकुश में होनी चाहिए। उसके लिए त्याग, संयम, अध्ययन की आवश्यकता होती है।

'काम न करना' निवृत्ति नहीं है। काम न करना भी काम करने की तरह ही एक वृत्ति है। निवृत्ति में दोनों से मनुष्य भिन्न हो जाता है। वह मुझे हमेशा आकर्षक लगता है और मेरा विश्वास है कि उसमें ताकत है।

कइयों का हिन्दुस्तान की कुल सिखावन पर आक्षेप है कि वह सिखावन निवृत्तिमार्गी है। मानों उन्होंने एक गाली ही बना दी है। लेकिन मैं उसका स्वीकार प्रशंसा के रूप में करता हूँ। प्रवृत्तिपरक तत्त्वज्ञान अनुशस्त्र की ओर ले जानेवाला है। प्रवृत्ति की शिक्षा नहीं देनी पड़ती, वह प्राप्त ही है। निवृत्ति ही लोगों को योग्य मार्ग पर रखनेवाली है। वही सीखने की और सिखाने की गरज है।

•

16. चार पुरुषार्थ

** काम और मोक्ष, दो छोर*

** मोक्ष आत्मावादी, काम देहवादी*

** दोनों का मिलाप कराते हैं—धर्म और अर्थ*

** संसार की भाषा नीतिशास्त्रीय*

** नीति की मर्यादा*

** अतः योगशास्त्र की शरण लें*

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ बताये गये हैं, इनमें से मोक्ष और काम दो परस्परविरोधी सिरों पर स्थित हैं। प्रकृति और पुरुष या शरीर और आत्मा में अनादि काल से संघर्ष चला आ रहा है। आत्मा को मोक्ष-पुरुषार्थ की अभिलाषा होती है, शरीर को काम-पुरुषार्थ प्रिय है। दोनों एक-दूसरे का नाश करने की ताक में रहते हैं।

पुरुषार्थ का अर्थ है, पुरुष को प्रवृत्त करनेवाला हेतु। यह आवश्यक नहीं कि यह हेतु 'सद्हेतु' ही हो। हिन्दूधर्म ने 'काम' को भी पुरुषार्थ माना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसने काम पर मान्यता की मुहर लगा दी हो। इसका इतना ही अर्थ है कि काम भी मनुष्य के मन में रहनेवाली एक प्रेरक शक्ति है। आत्मावान पुरुष शायद उसे स्वीकार न भी करे। इसके विपरीत 'मोक्ष' की गिनती भी 'पुरुषार्थों' में करके हिन्दूधर्म ने उस पर शक्यता की मुहर नहीं लगायी है। वहाँ भी इतना ही अभिप्राय है कि मोक्ष भी मानवीय मन की एक प्रेरक शक्ति है। देहधारी पुरुष के लिए उसकी आज्ञा मानना शायद असंभव भी हो।

शास्त्रकारों ने तो केवल मनुष्य की अत्युच्च और अति नीच प्रेरणाओं की तरफ संकेतमात्र किया है। मोक्ष परम पुरुषार्थ है, इसलिए अच्छा यह है कि मनुष्य उसकी तरफ अग्रसर हो। काम अधम पुरुषार्थ है, इसलिए इरादा यह है कि जहाँ तक हो सके, उसकी शकल ही न देखी जाये। लेकिन इन दोनों का मिलाप करने की प्रेरणा होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। इसलिए 'धर्म' और 'अर्थ' नित्य की दो प्रेरणाएं कही गयी हैं। मनुष्य को संतोष देने की चेष्टा करनेवाले ये दो मध्यस्थ हैं। संस्कारभेद से किसी को 'धर्म' प्रिय होगा, किसी को 'अर्थ' प्यारा लगेगा।

संपूर्ण त्याग और संपूर्ण भोग, ये परस्परविरोधी दो ध्रुव हैं। एक कहता है शरीर मिथ्या है, दूसरा कहता है, आत्मा झूठी है। दोनों को एक-दूसरे की परवाह नहीं, दोनों पूरे स्वार्थी हैं। लेकिन आत्मा और शरीर दोनों का मिलन मनुष्य में हुआ है। इसलिए एक पक्ष के अनुकूल स्थायी और निश्चित निर्णय देना कठिन हो जाता है। मन की द्विधा स्थिति हो जाती है। एक मन शरीर का पक्ष लेता है, दूसरा आत्मा की हिमायत करता है। मनुष्य का जीवन अ-शरीर आत्मा और आत्महीन शरीर की संधि पर आश्रित है, इसलिए उसे शुद्ध आत्मवाद या मोक्ष-पूजा पचती नहीं और शुद्ध जड़वाद या कामोपासना रुचती नहीं। इन दोनों मंत्रों में अद्वैत कायम रखना या उनका सामंजस्य करना बड़े कौशल का काम है। यह कर्म करने की चतुराई या 'कौशल' ही जीवन का रहस्य है।

दोनों (मोक्ष और काम या आत्मा और देह) पक्षों की दृष्टि में समझौता वांछनीय है। यह समझौता कराने का भार धर्म और अर्थ ने लिया है। आत्मवादी मोक्ष और देहवादी काम का झगड़ा मिटाने के लिए मोक्ष की तरफ से 'धर्म' और काम की तरफ से 'अर्थ' ये दो पुरुषार्थ उपस्थित हुए हैं। दोनों समझौता चाहते हैं, लेकिन धर्म की यह कोशिश होती है कि संधि की शर्तें मोक्षानुकूल हों और अर्थ की यह चेष्टा होती है कि वे कामानुकूल हों।

कामशास्त्र का तामस प्रवाह और मोक्षशास्त्र की सात्त्विक पुष्टि, दोनों समाज को एक-सी अपथ्यकर मालूम होती है। तामस प्रवाह और सात्त्विक पुष्टि दोनों वर्ज्य ठहरे, इसलिए राजस मर्यादा के प्रयोग हो रहे हैं। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र, दोनों समाज के लिए मर्यादाएं कायम करनेवाले शास्त्र हैं। दोनों को राजस कहा जाये तो भी धर्मशास्त्र को सत्त्व-प्रचुर और अर्थशास्त्र को रज-प्रचुर कहना होगा। हमारे यहाँ मुख्यतः धर्मशास्त्र का विकास हुआ, पश्चिम में अर्थशास्त्र का हुआ। धर्मप्रधान पौरस्त्य संस्कृति और अर्थप्रधान पाश्चात्य संस्कृति की एकवाक्यता की आशा नीतिशास्त्र से बहुत-कुछ की जा सकती है। नीतिशास्त्र का सिद्धांत ही यह है कि किसी भी सिद्धांत का अत्यधिक आग्रह नहीं रखना चाहिए। इसलिए इस बिंदु पर सारी दुनिया को एक किया जा सकता है। लेकिन 'संतोष से रहो', 'हिल-मिलकर रहो' या 'जैसे चाहो वैसे रहो'—इस तरह की संदिग्ध सिफारिश करने से अधिक नीतिशास्त्र आज कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए उसके झंडे के नीचे सारे विश्व के एकत्र होने की संभावना होते हुए भी इस भव्य दिग्वस्त्र की अपेक्षा लोगों को लंगोटी से ही अधिक संतोष होता है। 'मरने तक जियोगे' इस आर्शीवाद में सत्य है, परन्तु स्फूर्ति नहीं है। धर्म-मोक्ष की बात तो जाने दीजिए, अर्थ-काम के बराबर की स्फूर्ति भी उसमें नहीं है।

परन्तु इतना तो मानना पड़ेगा कि धर्म और अर्थ चाहे कितना ही समझौते का स्वांग क्यों न भरें, फिर भी वे पक्षपाती हैं और नीतिशास्त्र निष्पक्षपाती है। निष्पक्षपात वृत्ति के कारण आकर्षणशक्ति कुछ कम भले ही हो, तो भी वह उसका गुण ही माना जाना चाहिए। नित्य के भोजन में आकर्षण नहीं होता। रोज की खुराक होने से नीतिशास्त्र में चाहे आकर्षण का अभाव भले ही हो, परन्तु सारे समाज को देने योग्य उससे बढ़कर पौष्टिक दूसरी खुराक नहीं है। धर्म-मोक्ष पौष्टिक होते हुए भी महंगे हैं। अर्थ-काम सस्ते तो हैं, मगर उनकी गिनती कुपथ्य में होती है। इसलिए आज संसार को नीतिशास्त्र के बिना अन्य गति नहीं है।

कहा जाता है कि हमारी संस्कृति धर्मप्रधान है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम धर्मप्रधान हैं। हम तो अर्थ-काम के ही दास हैं। इसलिए यद्यपि हमारी संस्कृति को नीति की परवाह नहीं, तथापि हमारे लिए नीति की उपासना करना नितांत आवश्यक है। सारांश, क्या हमारी और क्या दूसरों की—सामान्य भाषा नीतिशास्त्र ही है, ऐसा कहा जा सकता है। सभी पुरुषार्थों की शिक्षा इसी भाषा में दी जानी चाहिए। नीति पुरुषार्थ भले ही न हो, किन्तु पुरुषार्थ के शिक्षण का द्वार है। अगर पुरुषार्थों का भाषांतर नीति की भाषा में किया जाये तो सभी पुरुषार्थों का स्वरूप सौम्य तथा परंपरानुकूल प्रतीत होगा।

नीति के आश्रय में सभी पुरुषार्थों का आग्रही या एकांगी स्वरूप बदलकर उनका समन्वय हो सकेगा। नीति के शीशे में से चारों पुरुषार्थों के रंग बिलकुल बदले हुए नजर आयेंगे। काम की सुंदरता, अर्थ की उपयोगिता, धर्म की पवित्रता और मोक्ष की स्वतंत्रता का एकत्र दर्शन होगा और संपूर्ण जीवन की यथार्थ कल्पना होगी। सौंदर्य, उपयोगिता, पवित्रता और स्वातंत्र्य इन चारों दिशाओं को नीति का आकाश स्पर्श करता है, इसलिए अगर चारों पुरुषार्थ ये नयी पोशाकें पहनना मंजूर करें तो उनका द्वैत कम होकर मनुष्य को संतोष होने की संभावना रहती है।

परन्तु आधुनिक नीतिशास्त्र का अपना कोई निश्चित सिद्धांत न होने के कारण वह बिलकुल खोखला हो गया है। इसलिए उससे ठोस संतोष की आशा करना व्यर्थ है। वर्तमान नीतिशास्त्र की तो आत्मा ही नहीं है, इसलिए उसका स्वरूप बहुत कुछ शाब्दिक हो गया है। चार पुरुषार्थों के मिलाप की संभावना दिखायी जाने पर भी समझौता करने का कर्तृत्व इस शास्त्र में नहीं है। इसलिए इस कमी की पूर्ति करने के उद्देश्य से ऋषियों ने कर्तृत्ववान योगशास्त्र का निर्माण किया। समझौते की पूर्वतैयारी के लिए नीतिशास्त्र को धन्यवाद देकर अगले कार्य के लिए इस योगशात्र की शरण लेनी पड़ेगी—**अथ योगानुशासनम्।**

17. आचारविचार-

** विचार-आचार में अंतर हो, विरोध न हो*

** विचार-स्वातंत्र्य के लिए आचार-नियमन*

** विचारमंथन से नवनीत, आचार संघर्ष से अग्नि*

** विचार ही विचार की कसौटी*

** क्रिया की तीव्रता कम हो, विचारपरायणता अधिक हो*

** विचारों का उद्गम अव्यक्त से, आचरण व्यक्त में*

केवल तत्त्वज्ञान हवा में रहता है। केवल कर्मयोग ऊँचा नहीं उठता, जमीन से चिपका रहता है। इसलिए जहाँ तत्त्वज्ञानयुक्त कर्मयोग का और कर्मयोगयुक्त तत्त्वज्ञान का यानी आचार और विचार दोनों का मेल है, वहाँ मानवता का दर्शन होता है। पाँव जमीन से सटे हुए और मस्तक गगनविहारी, इन दो चीजों के बिना जीवन परिपूर्ण नहीं बन सकता।

मनुष्य का तत्त्वज्ञान उसकी बुद्धि में गुप्त रहेगा, प्रकट होगा उसका आचरण। उसके आचरण से ही उसके तत्त्वज्ञान का नाप संसार को तथा उसको भी मालूम होगा। आचरण और ज्ञान में अंतर भले ही रहे, पर विरोध हरगिज नहीं रहना चाहिए और अंतर भी सतत कम करते रहना चाहिए। यह नहीं होना चाहिए कि जिस दिशा में विचार जा रहा है, उसकी विरुद्ध दिशा में आचरण जाये। बाकी दोनों में अंतर रहेगा ही क्योंकि विचार चित्त में होता है और आचरण देह के द्वारा होता है। चित्त की जितनी दौड़ होगी, उतनी दौड़ देह से संभव नहीं। लेकिन चित्त कहे कि दक्षिण में जायेंगे और देह कहे कि उत्तर में, तो वह नहीं होना चाहिए। चित्त दक्षिण की ओर जाता है तो आचरण भी दक्षिण की ओर ही जाना चाहिए, भले ही वह आहिस्ता- आहिस्ता चले।

अगर हम विचार में स्वैर रहना चाहते हैं, तो हमको आचार में संयत रहना पड़ेगा। अगर एक निश्चित रास्ते से घूमने का तय हो, तो आंख बंद करके मनुष्य चल सकता है और खूब स्वैर चिंतन कर सकता है। जहाँ मनुष्य आचार में संयत रहता है, वहाँ उसको विचार के लिए बिलकुल स्वातंत्र्य है। अगर हम विचार-स्वातंत्र्य चाहते हैं तो उसके साथ आचार-नियमन आता है।

विचार खूब करें, आड़ा-तिरछा, उल्टा-सीधा, चारों ओर से खूब सोचें। अधजगे रहकर यदि कुछ काम करेंगे, तो गिरेंगे। विचार को ठीक से समझें और समझ में आने के बाद ही उस पर अमल करें। शंकराचार्य ने जो आचार समाज को सिखाया, उसकी नींव में पड़ा हुआ तत्त्वज्ञान उन्होंने बुद्धिपूर्वक समझाया। वह जिसको जंचे, वे ही उस आचार को स्वीकार करे, ऐसा वे कहा करते थे। यह उनकी बड़ी महानता है। तत्त्वज्ञान जंचे बिना लोग उस आचार का अमल करें, ऐसी इच्छा उन्होंने रखी नहीं। उल्टे तत्त्वज्ञान ग्रहण होता हो तो ही आचार लें, अन्यथा स्वतंत्र रूप से मुझे आचार की जरूरत नहीं, ऐसा वे कहते थे। इसमें उनकी बहुत गहरी दृष्टि थी।

विचार-मंथन होना चाहिए। परन्तु आचार-संघर्ष नहीं होना चाहिए। मंथन से नवनीत, मक्खन पैदा होता है। संघर्ष से अग्नि उत्पन्न होती है, जो दाहक होती है।

मेरी श्रद्धा विचार के सिवा और किसी चीज पर लेशमात्र नहीं। अपने अनुभव से मैंने देखा है कि विचार ध्यान में आने पर, समझने पर, पचने पर, ठीक मालूम होने पर और उसका साक्षात् दर्शन होने पर, उसे अमल में लाने के लिए बीच में कुछ नहीं करना पड़ता। जो विचार मैंने पूरी तरह से समझा है, उसके आचरण के लिए कोई कृति करनी पड़ती हो, यह मेरी समझ में नहीं आता। जब विचार समझने पर उसके अमल करने में मुसीबत आती है, तब मैं अपने

मन में यही समझता हूँ कि उस विचार को मैंने परिपूर्ण समझा ही नहीं है। विचार के अमल के लिए विचार को परिपूर्ण समझना ही पर्याप्त है, यह मेरी श्रद्धा है।

अपने जीवन में मुझे हमेशा जो विचार जंचा, उस पर उसी क्षण अमल करना शुरू किया। विचार जीवन में लाये बिना विचारों का आकलन ही नहीं हो सकता, सिर्फ शब्दों के अर्थ मालूम हो जाते हैं। मैंने एक साल तक अर्थशास्त्र का अध्ययन किया था। उस वक्त मैं सिर्फ दो आने का आहार लेता था। दुनिया में गरीबी है, यह सिर्फ किताब पढ़ने से मालूम हो सकता है? मैंने अर्थशास्त्र की बहुत ज्यादा किताबें नहीं पढ़ी। एक साल में मुझे अर्थशास्त्र का पर्याप्त ज्ञान हो गया।

लोग विचार की कसौटी आचार को समझ बैठे हैं। किन्तु विचार की कसौटी विचार ही है। कृति करने में समय लगता है, कृति करनेवाले की खामी भी बाहर आती है। उसमें विकृति भी आ सकती है। विचार जितना सांगोपांग, उज्ज्वल और प्रज्वलित होता है, उतनी कृति नहीं होती।

हम अधिक विचारपरायण बनें और क्रिया की जो मर्यादाएं हैं, उनको ठीक से समझें तो अहिंसा अधिक फैलेगी, ऐसा हमें लगता है। इसमें क्रिया की तीव्रता कम होगी और विचार की प्रक्रिया अधिक होगी, ऐसी कार्यपद्धति हमें विकसित करनी होगी। मैं मानता हूँ कि शुद्ध विचार का दर्शन हमें होता है, तो 90 फीसदी काम हो गया समझिये।

विचारों का उद्गम अव्यक्त से होकर उसका आचरण व्यक्त सृष्टि में होता है। इसलिए अव्यक्त से व्यक्त में आने के बीच की भूमिका वाणी की समझी जाती है। वाणी कुछ अंशों में व्यक्त और कुछ अंशों में अव्यक्त होने से विचार और आचार के बीच समुचित श्रृंखला बन सकती है।

•

18. विविध

* *यज्ञ-दान-तप*

* *कर्म का योग कब ?*

* *ब्रह्मविद्या मंदिर में क्रियायोग*

* *समस्या का हल*

* *कृतिवाद और वेदांत*

* *कर्मप्रधानता और वृत्तिप्रधानता*

* *कर्तव्य भावना*

* *कृति ईश्वर से जोड़ दें*

* *कर्तबगारी कुंठित न हो*

* *दैनिक कार्यक्रम*

* *प्रारब्ध पुरुषार्थ*

* *कर्म का हेतु*

* *मनुष्ययोनि पुरुषार्थयोनि*

* *निमित्तमात्रं भव*

* *कर्म की तीन अवस्था*

यज्ञ-दान-तप

साधकों के लिए गीता ने यज्ञ-दान-तप का त्रिविध कार्यक्रम बताया है। जनमते ही मनुष्य का संबंध सृष्टि, समाज और स्वयं के शरीर के साथ हो जाता है। उसके हाथों इन तीनों की अशुद्धि और छीजन होती रहती है। उसकी पूर्ति करना इस त्रिविध कार्यक्रम का स्वरूप है। यज्ञ से सृष्टि की, दास से समाज की और तप से शरीर की क्षति-पूर्ति होती है और शुद्धि बनी रहती है।

इसमें यज्ञ का उद्देश्य है, सृष्टि की जो हानि हुई, उसे पूरा करना। हमारे कारण सृष्टि में जो क्षय होता है, उसकी पूर्ति हमें करनी चाहिए—**क्षतिपूर्ति यज्ञः।** हम सृष्टि को देते रहें और वह हमें देती रहे। प्रकृति और हमारे बीच सतत लेन-देन होती रहे। इसके लिए हमें परिश्रम करना चाहिए। उत्पादन क्रिया सतत चालू रखनी चाहिए। हम पग-पग पर सृष्टि का उपयोग करते रहते हैं। उस ऋण को चुकाने के लिए हमें यज्ञ अर्थात् सृष्टि की सेवा करनी है।

समाज से हम अपार सेवा लेते हैं। हम पर अनेकों के उपकार हुए हैं। समाज ने मुझे छोटे से बड़ा किया, इसलिए मुझे समाज की सेवा करनी चाहिए। सृष्टि का ऋण चुकाने के लिए यज्ञ, समाज के ऋण से मुक्त होने के लिए तन, मन, धन से सेवा तथा अन्य साधनों से समाज की जो सहायता की जाती है, वह दान है। **ऋण-मोचनं दानम्।**

तीसरी संस्था है शरीर। हम अपने मन, बुद्धि, इंद्रिय सबसे काम लेते हैं, इनको छिजाते हैं। इस शरीररूपी संस्था में जो विकार, जो दोष उत्पन्न होते हैं, उनकी शुद्धि के लिए 'तप' बताया गया है। जीवन के सब कर्मों का आधार चित्त है। तो गीता कहती है कि चित्तशुद्धि के लिए तप करें। चित्त की शुद्धि तप है और उसे बढ़ाने के लिए जो कुछ चिंतन, अध्ययन, ध्यान, नाम स्मरण आदि करने पड़ते हैं, वे भी सब तप है। **दोष-शोधनम् तपः।**

कर्म का योग कब?

कर्मयोग यानी कोई बड़ा अथवा प्रचंड कर्म नहीं। केवल बहुत कर्म करना भी कर्मयोग नहीं है। गीता का कर्मयोग कुछ और ही चीज है। उसकी विशेषता है कि फल की ओर ध्यान न देते हुए केवल स्वभाव-प्राप्त अपरिहार्य स्वधर्म का पालन करना और उसके द्वारा चित्तशुद्धि करते रहना। यों तो सृष्टि में सतत कर्म-कलाप होता ही रहता है। कर्मयोग का अर्थ है, विशिष्ट मनोवृत्ति से समस्त कर्म करना। समूचा जीवन दुनिया की सेवा में खर्च करना, उसमें सावधानीपूर्वक अहिंसा इत्यादि का पालन करना, अहंकार और आसक्ति का थोड़ा भी स्पर्श न होने देना, निरंतर चित्त का शोधन करते जाना, जीवन की हरएक कृति ईश्वर के साथ जोड़ देना, यह सब इकट्ठा हुए बिना गीतानुसार कर्मयोग हो नहीं सकता।

कर्मयोग शब्द हमने बहुत सरल बना डाला है। फलत्यागपूर्वक, अनासक्तभाव से, निरहंकार होकर, ईश्वरार्पण बुद्धि से, जो सहजप्राप्त सत्कर्म किया जाता है, उसके लिए 'कर्मयोग' शब्द है। ऐसे कर्मयोग को स्वयमेव भक्ति का रूप प्राप्त हो जाता है। इस तरह कर्मयोग का आचरण करनेवाला काम करता है, तो उस कर्म का वेग उसके चित्त पर नहीं होता। इसलिए कर्म का समय खतम होते ही उसी क्षण वह निर्विचार हो जाता है। कर्म करते समय वह विचार करता है, लेकिन वह विचार कर्म के साथ आता है यानी वह विचार कर्म का अंग ही होता है।

कर्मयोग यानी सर्वभूतांतरात्मा एक ही है, ऐसे निश्चय के साथ निष्कामभाव से सबकी सेवा करके '**अहमभाव**' को भूल जाना।

ब्रह्मविद्या मंदिर में क्रियायोग

ब्रह्मविद्या के लिए अनिवार्य है, उतनी ही क्रिया निर्विकार बुद्धि से करना, यह ब्रह्मविद्या की कसौटी है। जिसके बिना चल ही नहीं सकता, उतनी ही क्रिया ब्रह्मविद्या में आयेगी। जो

क्रिया अनिवार्य नहीं है, वह हम कर रहे हैं, तो वह हमारी इच्छा है। वह कार्य इच्छायुक्त हुआ। और इच्छा ही विकार है, इसलिए वह कार्य निर्विकार नहीं हुआ।

हमारे लिए खास करके अणुयुग में यह सोचने की बात है। जैसे होमियोपैथी में होता है कि दवा जितनी कम, असर उतना ज्यादा। वैसे ही ब्रह्मविद्या में क्रिया जितनी कम, ब्रह्मविद्या उतनी ज्यादा। हमारी क्रियाओं की कसौटी दुनिया में तो हम करते नहीं, क्योंकि दुनिया से ब्रह्मविद्या गायब है। मनुष्य में अनेक वासनाएं, प्रेरणाएं होती हैं और उनसे प्रेरित लोग अनेक कृतियाँ करते हैं। उन क्रियाओं का न अंत है, न पार है। ब्रह्मविद्या-मंदिर में हमें अपनी क्रिया को ब्रह्मविद्या की कसौटी पर कसना होगा। अगर क्रिया ब्रह्मविद्या के लिए अनिवार्य है, तो करें,।

यहाँ कोई कार्यक्रम नहीं होना चाहिए। अ-कार्यक्रम होना चाहिए। मैं कुछ नहीं करता हूं, केवल भगवद्सेवा करता हूँ ऐसी भावना होनी चाहिए। रसोई, प्रेस का काम, कचरा उठाना इत्यादि सब एक ही कार्य है, भगवद्सेवा का। कार्यक्रम होने से चित्त पर उसका बोझ होता है। किसी भी कार्य का चित्त पर बोझ न हो। तात्पर्य, हमें कर्मजाल में नहीं फंसना है। कर्म जब केवल ध्यानस्वरूप होता है, तब वह क्रिया न हो कर अक्रिया होगी।

इस प्रकार की क्रियाएं जो ध्यानपूर्वक हो सकती हैं, वह सादी, सरल होनी चाहिए। कुछ क्रियाएं तो होनी ही चाहिए, लेकिन जितनी कम हो सकती हैं, करें। कौन-कौन सी क्रियाएं कम कर सकते हैं? खेती के बिना तो दुनिया का चल नहीं सकता, सो खेती तो अनिवार्य है। खेती के साथ पूरक धंधे के रूप में हमने प्रेस का काम चुना है, जिससे दुनियाभर में विचार-प्रचार का काम हो सकता है। सफाई के बिना तो ध्यान नहीं हो सकता, इसलिए सफाई अनिवार्य है। फिर रसोई और बीमार-वृद्धों की सेवा इत्यादि, ये जो काम हैं, वे हमारे लिए अत्यंत अनिवार्य हैं। बाकी अनेक धंधे खड़े करना उचित नहीं। इन झमेलों से चिंतन-मनन, अन्योन्य चर्चा, स्वाध्याय इत्यादि के लिए समय नहीं रहता। परिणामस्वरूप हम स्फूर्ति खोते हैं। शरीर

के लिए जो चाहिए, वह शरीर से कमा लिया। फिर बुद्धि सहज ही आत्म-चिंतन के लिए मुक्त रहेगी। शरीरपरिश्रम हमारा बराबर चले और उसमें व्यवस्था, सौंदर्य और कार्य के मिकदार (आउटपुट) तीनों का ख्याल रहे।

लेकिन हम सामूहिक साधना कर रहे हैं। उसमें कुछ क्रियाएं बढ़ती हैं। हम जिस युग में हैं, उसमें अत्यंत दारिद्र्य है। इसलिए भिक्षा मांग कर जीना उचित नहीं है। इस वास्ते शरीरश्रम के आधार से जीना हमने योग्य माना। शरीरश्रम-निष्ठा को ब्रह्मविद्या का अंग माना। क्रियाएं बढ़ने के कारण उपकरण भी बढ़ते हैं। वे कम से कम हों, ऐसी कोशिश करनी चाहिए। एक संन्यासी की कहानी है। वह नदी पर पानी पीने के लिए जा रहा था। पीछे से कुत्ता आया और झट से पानी पी कर चला गया! संन्यासी सोचने लगा कि ये तो मुझसे भी ज्यादा अपरिग्रही है! तत्क्षण उसने कमंडलु फेंक दिया और दोनों हाथों से पानी पी कर चल पड़ा !

ब्रह्मविद्या-मंदिर में सारा कर्तृत्व बहनों का हो और वे अकर्तृत्व का अनुभव लें। कर्तृत्व का अनुभव अगर उनको आता है, तब वे लीडर बनेगी। अकर्तृत्व का अनुभव आता है, तो ब्रह्मविद्या सधेगी।

समस्या का हल?

क्या हम लिखकर दे सकते हैं कि आज का प्रश्न हल हो जाये तो दूसरे प्रश्न पैदा नहीं होंगे? जिस तरह दिन के बाद दिन आता है, उसी तरह प्रश्न के बाद प्रश्न आते ही रहते हैं। कोई-कोई मुझसे पूछते हैं कि क्या आप भूमि-समस्या का हल करनेवाले हैं? मैं कौन हूँ हल करनेवाला? मेरी ही समस्या आज हल हो सकती है? सातत्यपूर्वक प्रयत्न करते हुए भी मैं मानता हूँ कि हमारी कृति का कोई असर सृष्टि पर नहीं पड़ेगा। सृष्टि जैसी है, वैसी ही रहेगी। कृष्ण आये और गये, समस्या कायम है। राम आये और गये, बुद्ध आये और गये, गांधीजी आये और गये, समस्या कायम है। हम कौन होते है कि कोई समस्या हल करें?

दुनिया की किसी समस्या का हल करना हमारे हाथ में नहीं है। वह हमारा काम भी नहीं है। लेकिन हमको ऐसा काम करना चाहिए, जो हम अपने जीवन में समाप्त कर सकते हैं और वह है, आत्मसाक्षात्कार। वह ऐसा काम है जो अगर कोशिश करें तो हम इसी जीवन में पूरा कर सकते हैं।

यह भ्रम बिलकुल न रहे कि हमारे काम से दुनिया में कोई बड़ा परिवर्तन हो जायेगा, हम बहुत कुछ कर डालेंगे। दुनिया तो अपनी गति से चलती रहेगी। उसमें कुछ बदलाव होनेवाला नहीं। हमारे काम का प्रयोजन है, हमारे अपने चित्त की शांति।

कृतिवाद और वेदांत

कृतिवाद कहता है— प्रार्थना, नामस्मरण, पूजा-पाठ आदि की वस्तुतः कोई जरूरत नहीं है। हम चौबीसों घंटे रत रहें, तो बस है। कर्म-शुचित्व का मार्ग भी कर्म ही बतायेगा। कर्म पर अनन्य निष्ठा रखने के बजाय, कुछ निष्ठा कर्म पर, कुछ निष्ठा प्रार्थना पर, इस तरह का द्विधाभाव रखना अच्छा नहीं है। द्वैत हर हालत में तकलीफ देता है। इसलिए निश्चय करो **कर्मभिः निःश्रेयसम्**—कर्म ही मोक्षदायक है।

दूसरी ओर वेदांत ने हमेशा कहा है कि क्रियाएं कम होनी चाहिए। इसलिए वेदांत पर आक्षेप है कि वह लोगों को निष्क्रिय बनाता है। यह आक्षेप आज का नहीं, पुराना है। परन्तु ब्रह्मसूत्र-भाष्य में भाष्यकार ने उसका उत्तर देते हुए कहा है—**अलंकारो हि अयं अस्माकं**—हम यह अपना अलंकार ही समझते हैं कि ब्रह्मविद्या में **सर्वकर्तव्यताहानिः**—सब कर्तव्यता समाप्त होती है। बड़ा शानदार वाक्य है। आक्षेप को हम भूषण समझते हैं, ऐसा उत्तर दे दिया।

गांधीजी अत्यंत क्रियाशील दीखते थे। मैंने 'रामनाम, एक चिंतन' किताब में ध्यान खींचा है कि कर्मयोगी महात्मा गांधी शंकराचार्य की निष्क्रियता पर आ गये, जब वे कहते हैं—"एक

सच्चा विचार सारी दुनिया पर छा सकता है, उसे प्रभावित कर सकता है, वह कभी बेकार नहीं जाता। विचार को बोल या काम का जामा पहनाने की कोशिश ही उसकी ताकत को सीमित कर देती है। ऐसा कौन है, जो अपने विचार को शब्द या कार्य में पूरी तरह प्रकट करने में कामयाब हुआ हो ? आप पूछ सकते हैं कि अगर ऐसा है, तो फिर आदमी हमेशा के लिए मौन ही क्यों न अपना लें? उसूलन तो यह मुमकिन है, लेकिन जिन शर्तों के मुताबिक मौन पूरी तरह विचार की जगह ले सकता है, उन शर्तों को पूरा करना बहुत मुश्किल है। मैं खुद अपने विचारों पर इस तरह पूरा-पूरा काबू पा लेने का कोई दावा नहीं कर सकता। लेकिन मेरे दिल में तो इसकी एक तस्वीर खिंच गयी है।"

अक्सर हम कहते हैं, गांधीजी भी कहते थे कि विचार को हमें कृति में उतारना चाहिए। कृतिशून्य विचार कोई ताकत नहीं रखता। लेकिन यहाँ तो उससे बिलकुल उल्टी बात कह दी हैः "विचार को बोल या काम का जामा पहनाने की कोशिश ही उसकी ताकत को सीमित कर देती है।" यहाँ हम संन्यास के करीब पहुँच चुके हैं। संन्यास का नाम लेते ही कुछ लोग मुझ पर रुष्ट हो जायेंगे, यह मैं जानता हूँ। लेकिन कर्मयोगी गांधी के दिल में जो तस्वीर खिंच गयी है, वह संन्यास की है, इसके लिए मेरे पास कोई चारा नहीं। शंकराचार्य की वही हालत थी। वे आमरण कर्मयोगी रहे, लेकिन संन्यास की रटन रटते रहे।

संन्यास कहने से हमारे मन में दुर्बल निष्क्रियता का ही खयाल आता है। लेकिन क्रियातीत एक शक्ति होती है, जिसका मुकाबला तीव्रतम क्रिया भी नहीं कर सकती। वही ज्ञानमय संन्यास की शक्ति है। जैसे अहिंसा एक दुर्बल की होती है और एक बलवान की। जो बलवान की अहिंसा होती है, उसमें हिंसा से, शतगुणित शक्ति भरी रहती है। वैसे ही संन्यास की बात है। जहाँ संन्यास की परम भूमिका आती है, वहां कोई भी क्रिया, सात्त्विक भी, हिंसा में शुमार होती है। चाहे यह अवस्था देह में प्राप्त न हो सके, तो भी ध्यान उसी का होना चाहिए।

मानव का जन्म उसी उपलब्धि के लिए है। एक हद तक क्रिया विचार की मददगार होती है। उसके बाद वह बाधक हो जाती है। गीता ने यह बहुत अच्छी तरह से समझाया है। 'कर्म मे अकर्म और अकर्म में कर्म' यह है गीता-सूत्र। आत्मदर्शी ज्ञानी कर्म करते हुए नहीं करते और न करते हुए भी कर लेते हैं। इस चीज का जिसने अनुभव किया, उसने सब ज्ञान पा लिया, सब योग साध लिया, सब काम कर लिया—**स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत!**

कर्तव्य भावना

मनुष्य अनेक प्रकार के काम करता है। उसके पीछे दो प्रेरणाएं रहती हैं। एक, मुझे कुछ करना है। दो, मुझे कुछ पाना है। नीतिमान लोग कर्तव्यभावना से प्रेरित होते हैं, सामान्य लोग प्राप्तव्य भावना से प्रेरित होकर काम करते हैं। इन दो प्रेरणाओं में कर्तव्य व्यक्ति का और प्राप्तव्य विश्व-समाज का, ऐसी व्यवस्था की जा सकती है। ज्ञानी पुरुष में न तो कर्तव्य प्रेरणा काम करती है, न प्राप्तव्य प्रेरणा। उसमें स्वाभावानुसार सहज प्रेरणा काम करती है। ज्ञानी के द्वारा होनेवाला लोकसंग्रह इन दोनों प्रेरणाओं से वर्जित रहता है। उसका वह स्वभाव ही होता है। उसका उसे भार नहीं होता। दोनों में से एक का भी बोझ नहीं।

मनुष्य का कर्तव्य है, चित्त की शुद्धि करना, आत्मा का दर्शन करना। सहजभाव से जितना सेवा हो सकती है, उतनी करने के अलावा और किसी कर्तव्य की अपेक्षा भगवान ने हमसे नहीं की है।

सांसारिक कर्तव्य नाम का कोई भी कर्तव्य नहीं, ऐसा अपने मन में पक्का निश्चय करना होगा। परमेश्वर-दर्शन के लिए नित्य प्रयत्न ही कर्तव्य है। उसके लिए साधनरूप शरीर को खिलाना पड़ता है तो उस कर्जे को चुकाने के लिए समाज की थोड़ी सेवा करें। भगवान की भक्ति, आत्मसाक्षात्कार, अहंकार मिटाने की कोशिश करना ही फर्ज है, बाकी सांसारिक फर्ज कोई नहीं।

कोई भी कर्म मरते दम तक करना चाहिए, ऐसी जिम्मेवारी हम पर नहीं है। बच्चे, घरबार, संसार आदि अनेक जिम्मेवारियां मनुष्य को उठानी पड़ती हैं। एक हद तक उन्हें उठाना चाहिए। किन्तु जो आमरण जिम्मेवारी उठाने की बात कहेगा, वह मुक्ति की राह नहीं पायेगा। इसलिए मुक्ति की राह पर चलनेवाले राहगीरों, आपको कभी-न-कभी अपने माने हुए कर्तव्यों को तोड़ना ही होगा।

कर्मप्रधानता और वृत्तिप्रधानता

गीता भगवान को यज्ञ-तप का भोक्ता बताती है—**भोक्तारं यज्ञतपसां** । यहाँ यज्ञ यानी समाजसेवा और तप यानी वृत्तिशोधन। दोनों क्रमशः कर्मयोगनिष्ठा और संन्यासनिष्ठा के अपेक्षित विशिष्ट फल हैं। संन्यास वृत्तिप्रधान होने के कारण उससे मुख्यतः वृत्तिशोधन की अपेक्षा रहती है। कर्मयोग कर्मप्रधान होने से उससे मुख्यरूप से समाजसेवा की अपेक्षा की जाती है। पर कर्मयोग का यथास्थिति आचरण होने पर समाजसेवा के साथ वृत्तिशोधन भी हो जाता है। निरहंकार वृत्तिशोधन होने पर वही एक महान समाजसेवा सिद्ध होती है। संन्यास का निरहंकार वृत्तिशोधन सूक्ष्म कर्मयोग ही है।

कर्मप्रधान यज्ञ और वृत्तिप्रधान तप—जीवन के ये दो प्रवेश पथ हैं। दोनों में दोनों का ख्याल रखना पड़ता है। कर्मप्रधान और वृत्तिप्रधान दो प्रकार की दृष्टियाँ हैं। दोनों श्रेयसाधक हैं। अगर दोनों को अलग समझकर दो मार्ग बताये जायें तो दोनों में दोष आ सकते हैं। वृत्तिसंशोधन को मुख्य स्थान देकर काम करनेवाले कर्म के विषय में उदासीन हो जायें, तो वृत्तिसंशोधन में दोष आ सकते हैं। इसी तरह कर्मयोगमूलक योजना करनेवाले वृत्तिसंशोधन के विषय में असावधान रहे तो उस कर्म में भी दोष आ सकते हैं।

हर कृति ईश्वर से जोड़ दें

प्रत्येक क्रिया ईश्वर के साथ जोड़ते ही जीवन में एकदम अद्भुत शक्ति आती है। हर कृति ईश्वर के साथ जोड़ने की युक्ति हमें सध गयी तो उस कुंजी से समस्याओं के सब ताले खुल

जायेंगे। जो कुछ भी सेवाकार्य करें, उसको भगवान से जोड़ दें। बस, काम बन गया। राम के गुलाम हो जाओ। वह कठिन वेदमार्ग, वह यज्ञ, स्वाहा, स्वधा, श्राद्व, तर्पण सब हमें मोक्ष की ओर ले जायेंगे। परन्तु उसमें अधिकारी और अनाधिकारी का झमेला खड़ा होता है। हमें उनकी जरूरत ही नहीं। इतना ही करें कि जो कुछ करते हैं, वह ईश्वरार्पण कर दें। अपनी प्रत्येक कृति का संबंध ईश्वर से जोड़ दें। जीवन में कितनी क्रिया की है, इसका महत्त्व नहीं है। ईश्वरार्पण बुद्धि से यदि एक भी क्रिया की हो, तो वहीं हमें पूरा अनुभव करा देगी। जीवन के सादे कर्मों को, सादी क्रियाओं को परमेश्वर को अर्पण कर देने से जीवन में सामर्थ्य आ जायेगा, मोक्ष हाथ लग जायेगा। कर्म करके उसका फल न छोड़कर, उसे ईश्वर को अर्पण कर देना। एक ओर से कर्म और दूसरी ओर से भक्ति, दोनों को जोड़कर जीवन सुन्दर बनाते चलें। फल को त्यागना नहीं, फेंकना नहीं, बल्कि भगवान से जोड़ देना है। बोने और फेंक देने में फर्क है। बोया हुआ थोड़ा भी हो तो अनंतगुना होकर मिलता है। फेंका हुआ यों ही नष्ट हो जाता है। जो कर्म ईश्वर को अर्पण किया उसे बोया हुआ समझो। उससे जीवन में अपार आनंद भर जायेगा, अपार पवित्रता आ जायेगी।

प्रत्येक कृति ईश्वर के साथ जोड़ देनी चाहिए। उसके साथ हम बातचीत कर सकें, उससे प्रश्न पूछ सकें, उससे जवाब प्राप्त कर सकें और तदनुसार आचरण करने की हिम्मत भी हो— यह सब होने की जरूरत है। यह बहुत बड़ी प्रक्रिया है। यह भोलेपन की बात नहीं है। जिस प्रकार आधुनिक विज्ञान अनुभव पर आधारित है, उसी प्रकार यह भी अनुभूति पर आधारित है। इसलिए हम अपने काम को परमात्मा के साथ जोड़ दें।

सत्कर्म चाहिए, निष्कामता चाहिए और दोनों के अलावा समर्पण चाहिए। भावना के बिना कर्म स्वयमेव समर्पण होना संभव नहीं है। भावना ईश्वर के साथ जुड़ जाये, तो कर्म ही नहीं, हर कृति, नींद भी ईश्वर से जुड़ जायेगी।

कर्तबगारी कुंठित न हों

कार्य के प्रारम्भ में ही सारी सुविधाएं प्राप्त हो जायें तो मनुष्य की कर्तबगारी कुंठित हो जाती है। इसलिए कार्यारंभ असुविधाओं के साथ होना चाहिए। फिर सुविधाएं परिश्रम के द्वारा प्राप्त कर लेनी चाहिए। लेकिन सुविधाएं प्राप्त होते ही नयी प्रतिभा से नयी असुविधाएं प्राप्त कर लें और सदा सुखी रहें। इसमें जीवन की मधुरता है।

एक ही काम सतत सालों तक करते रहने से मनुष्य की बुद्धि का विकास कुंठित होता है। ऐसे काम का मनुष्य आदी हो जाता है। इसलिए नया काम करना चाहिए जिसमें स्वतंत्र श्रम करना पड़े, आध्यात्मिक अनुसंधान करना पड़े। थोड़ा आध्यात्मिक चिंतन-मनन कर सके, इसलिए पुराना काम छोड़ना पड़ता है। हम जो काम करते थे वह अब दूसरे, नये लोगों को करने दें।

दैनिक कार्यक्रम

सब काम नियमितता से करने से कर्मयोग की शक्ति बढ़ती है, चौबीस घंटों का उपयोग होता है और थकान नहीं आती। सोना, उठना, घूमना, भोजन, अध्ययन, व्यायाम आदि के रोज के काम का समय निश्चित कर लें, तो बाकी कामों का समय सहज ही निश्चित हो जायेगा और काम का भार नहीं होगा।

कार्यकर्ता के दैनिक कार्यक्रम संबंधी मेरी सामान्य कल्पना इस प्रकार है—कुल मिलाकर समय के तीन विभाग - 1. विश्रांति 2. स्वकृत्य 3. कार्य। प्रत्येक के आठ घंटे।

विश्रांति के अंतर्गत—1. नींद 2. बातचीत आदि 3. गायन, सितारवादन, समाचारपत्र-वाचन।

स्वकृत्य के दो हिस्से (1) आत्मकृत्य (2) देहकृत्य। आत्मकृत्य में प्रार्थना, तकली उपासना, स्वाध्याय, लेखनोपासना (अर्थात् रोज के अनुभव, विचार) आदि। देहकृत्य में रसोई,

व्यायाम, स्नान और भोजन आदि देहादि कार्य। कार्य के अंतर्गत—(1) उत्पादक परिश्रम (2) अन्य सार्वजनिक कार्य।

प्रारब्ध-पुरुषार्थ

जीवन में कुछ बातें प्रारब्ध की होती हैं, कुछ बातें पुरुषार्थ की होती हैं। हमारा अपना चित्त निर्मल रखना पुरुषार्थ की बात है। समाज हमारा अच्छा उपयोग करे, यह है प्रारब्ध की बात। हमारे लिए भगवत्-आश्रय सबकुछ है। तुकाराम कहता है, भक्त के लिए सब नारायण है। प्रारब्ध वगैरह कुछ नहीं।

दैववाद में पुरुषार्थ को अवकाश नहीं है, इसलिए वह बावला है। प्रयत्नवाद में निरहंकारवृत्ति नहीं है, इसलिए वह घमंडी है। फलतः दोनों ग्रहण नहीं किये जा सकते। परन्तु दोनों को छोड़ा भी नहीं जा सकता। कारण दैववाद में जो नम्रता है, वह आवश्यक है। प्रयत्नवाद में जो पराक्रम है, वह आवश्यक है। प्रार्थना इसका मेल साधती है। प्रार्थना में दैववाद और प्रयत्नवाद का समन्वय है। प्रार्थना यानी अहंकाररहित प्रयत्न। प्रयत्न और प्रार्थना दैव को अनुकूल करने के साधन हैं।

प्रयत्न और दैव इनमें मुझे विरोध दीखता नहीं। मेरे सारे प्रयत्नों के अंत में जो कुछ होगा, उसको मैं दैव कहूंगा।

हमारी उन्नति कैसी होगी, इसकी हम फ़िक्र करें। हमारा उत्थान कहां रुका है, यह देखें कैसे सुधार सकते हैं, इस पर सोचें। दैव कितना भी बलवान हो, इतना स्वातंत्र्य सभी को होता है। उसका उपयोग कर लें तो दैव भी अनुकूल हो जायेगा। दैव यानी हमारे ही पुराने कर्म। है न?

कर्म का हेतु

किसका काम ठीक है और किसका बेठीक, इसकी परख दुनिया में नहीं होती, क्योंकि कर्म के पीछे जो हेतु होता है, उसे दुनिया नहीं जानती। दुनिया कर्म के एक अंग को ही देखती है। कर्म का स्वरूप यहाँ पूरा नहीं दीख पड़ता। इसलिए कर्म का मूल्य यहाँ नहीं आंका जा सकता। कर्म का हेतु, उद्देश्य न जानते हुए केवल फल को देखने से गलतफहमी होती है। लेकिन भगवान के दरबार में कर्म का हेतु, स्वरूप और पर्यवसान, यह सब देखकर मनुष्य के कर्म के बारे में फैसला होगा। बाहर से जो कर्म चलता है, उसकी परख यहाँ नहीं होगी। उसकी परख वहीं होगी।

ऊपर हमारे हार्ट का चार्ट रहेगा, काम का नहीं। काम तो व्यक्ति ने किया लेकिन उसके हृदय के अन्दर क्या भाव हैं, वह ऊपर लिखा जायेगा। हृदयशुद्धि पूर्वक काम किया हो तो वह जमा होगा, नहीं तो खर्च खाते जमा रहेगा।

किसी व्यक्ति की क्रिया भले ही गलत दीखती हो, हमें मानना चाहिए कि उसका हेतु अच्छा ही है। हम उसकी कृति देखते हैं। कृति (ऐक्शन) ऊपर से दीखती है, लेकिन 'स्प्रिंग ऑफ ऐक्शन'—कृति का स्रोत दीखता नहीं। वह जानने की हमारी शक्ति नहीं, वह ईश्वर की शक्ति है। हमें मान लेना चाहिए कि अच्छा से अच्छा हेतु होगा। यह आस्तिकता का लक्षण है।

मनुष्ययोनि पुरुषार्थयोनि

देवयोनि, तिर्यंचयोनि, मानवयोनि—तीन प्रकार की योनियाँ हैं। देवयोनि यानी मानव से ऊपर की योनि, तिर्यंचयोनि यानी मानव के नीचे की योनि, उदाहरणार्थ पशु, पक्षी, कीटक इत्यादि। देवयोनि में उत्तम भोग और तिर्यंचयोनि में दुःख भोगना है।

शास्त्रीय विचार है कि मनुष्ययोनि में कर्माधिकार है, देवयोनि और नीचे की योनि में कर्माधिकार नहीं है। वहाँ सिर्फ भोग भोगना होता है। नया पुरुषार्थ करने को नहीं रहता। नये

पुरुषार्थ का अधिकार सिर्फ मानवयोनि में है। मनुष्ययोनि में कर्म का अधिकार है, कृति-स्वातंत्र्य है। मनुष्य ऊपर उठ सकता है, नीचे भी गिर सकता है। गाय या बाघ को ऐसी स्वतंत्रता नहीं है। कोई बाघ सोचे कि मैं वशिष्ठ आश्रम में रहता हूँ, घास खाकर क्यों न रहूं? तो उसके लिए शाकाहारी होना संभव नहीं। गाय को मांसाहार शक्य नहीं। मनुष्य को स्वातंत्र्य है। वह दोनों कर सकता है। पुरुषार्थ का अवकाश होने के कारण मनुष्य वासनाक्षय कर सकता है या कर्मों से परिपोषित होकर वासना प्रबल भी हो सकती है।

ब्रह्मसूत्र में बादरायण ने लिखा है कि देवयोनि में भी पुरुषार्थ संभव है। उनकी कल्पना है कि पुरुषार्थयोनि के देव अलग और भोगयोनि के देव अलग होते हैं।

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्

निमित्तमात्र बनने का अर्थ है, सदैव भगवान का स्मरण करें और अहंकार न रखें कि 'यह काम मैं करने जा रहा हूं'। यही भावना हो कि ईश्वर कर रहा है, मैं नहीं। मैं काम कर रहा हूं, यह भावना हो तो मैं भगवान से अलग हो जाता हूँ। लेकिन यह मैं नहीं कर रहा, वह मुझसे करवा रहा है, मैं उसके हाथ का साधन हूँ, यह भाव हो तो इसका मतलब होगा, ईश्वर को जीवन के प्रत्येक क्षण में याद कर रहा हूँ।

ईश्वर के हाथ का साधन, औजार बनने का अर्थ है कि एक ओर से निरहंकारता, शून्यता और दूसरी ओर से पुरुषार्थ की पराकाष्ठा—प्रयत्न की परिपूर्णता। 'सव्यसाची' यानी दाहिने हाथ से ही नहीं, बल्कि बायें हाथ से भी काम करने को तैयार रहनेवाला।

कर्म की तीन अवस्था

कर्म की लीगल (कानूनी), मॉरल (नैतिक), स्पिरीच्युअल (आध्यात्मिक) तीन अवस्थाएं हैं। लीगल मिनिमम कर्तव्य कहा जायेगा। जब गैरकानूनी बात सामने आती है तब कानूनी

तरीके से बरतना चाहिए। जब कानून विरुद्ध नैतिकता का प्रश्न आता है तब नैतिक तरीके से बरतें। जब नैतिक और आध्यात्मिक के बीच प्रश्न खड़ा होता है तब आध्यात्मिक को ग्रहण करें। गौतम बुद्ध ने पत्नी का त्याग किया और घर छोड़कर निकल गये, यह नैतिक नहीं, आध्यात्मिक कर्म था।

•

19. स्फुलिंग

जिस कर्म में हार्दिकता नहीं है, उससे न तुष्टि मिल सकती है, न पुष्टि।

*

आत्मज्ञान में सभी कर्मों की परिसमाप्ति हुआ करती है, इसलिए उसे परम पुरुषार्थ कहते हैं।

*

जिस काम में किसी से स्पर्धा नहीं और अपना मत्सर करनेवाला कोई नहीं, वह काम करें।

*

धर्म—परोपकार, देहसार्थकता का पुरुषार्थ

मोक्ष—आत्म-स्वातंत्र्य, देहातीतता का पुरुषार्थ

*

कोई बड़ा काम न हो सके तो भी आत्मोन्नति का, चित्तशोधन का सादा कृत्य अवश्य करते रहें।

*

जीवन का बाह्याकार देह है, तो साधना का बाह्याकार कर्मयोग होता है और अंतराकार भक्ति, ज्ञान, ध्यान आदि है।

*

पानी का फार्मूला है, H_2O। अच्छे जीवन के लिए फार्मूला है M_2O दो भाग ध्यान (मेडीटेशन), एक भाग कर्म (एक्शन)।

*

संतों का सारा क्रियाकलाप, फैलाव, उद्योग भूतदया से प्रेरित रहता है।

*

प्रचार का सच्चा साधन कृति है।

*

आत्मपरीक्षण से मन का, मौन से वाणी का और कर्मयोग से शरीर का दोष झड़े बिना आत्मा को आरोग्य नहीं मिलेगा।

*

कर्तव्यहीनता से कर्तृत्व श्रेष्ठ। पर कर्तृत्व से अकर्तृत्व श्रेष्ठ।

*

सत्कर्म का आचरण करके उसमें से फल निकालने का यत्न करना गंगा में डुबकी लगाकर गाद उलीचने के समान है।

*

शोधनत्रयी—1. विचारशोधन 2. वृत्तिशोधन 3. वर्तनशोधन।

*

कर्म के नियामक—1. प्रसंग 2. प्रारब्ध 3. प्रज्ञा

*

आरुरुक्षु जीवन में—1. उद्योग 2. प्रयोग, आरूढ़ जीवन में—योग।

उद्योग-उत्+योग=ऊँचा योग। बिना उद्योग के न गुण विकास होता है, न गुणों की परख होती है।

*

प्राप्त कर्म छोड़कर रुचिकर कर्म चुनने में अस्वाद व्रत का भंग होता है।

*

फल की चिंता कर्ता को नहीं करनी चाहिए। वह करने के लिए कर्म समर्थ है।

*

क्रियाएं, हलचल व्यक्त में, मूल प्रेरणा अव्यक्त में।

*

महापुरुषों की आत्मा शरीर में रहते हुए जितना काम करती है, उससे ज्यादा काम शरीर से मुक्त होने पर करती है।

*

मेरे काम को प्रसिद्धि की नहीं, सिद्धि की भी नहीं, शुद्धि की जरूरत है।

*

वाणी में नम्रता, चित्त में दृढ़ता और बुद्धि में व्यापकता रखकर हम अपना काम करते चले जायें। कार्य भगवान की कृपा से होगा। निमित्त हम बनेंगे।

*

हृदय में राम, मुंह में नाम और हाथ में सेवा का काम, यही है आज की साधना।

*

शरीर को सेवा में घिसना होता है, तभी वह आत्मज्ञान प्राप्त करने योग्य बनता है।

*

जो कर्ता और भोक्ता होते हैं, वे द्रष्टा नहीं होते। कर्ता और भोक्ता को दर्शन नहीं होता। दर्शन द्रष्टा को होता है।

*

कार्य की व्याप्ति बढ़ाने के बजाय उसकी गहराई बढ़ाना अच्छा होता है। उससे सेवा भी अधिक होगी और चित्तशांति भी बढ़ेगी।

*

सच्चाई से रहना, किसी पर अपना भार न पड़े और सतत कर्म करते रहना—यह है मुक्ति की साधना।

*

साधक का कार्य कर्म के बिना नहीं सधेगा। सिद्ध पुरुष का कार्य शम से ही सधता है। उसके शम में अनंत कर्मशक्ति भरी होती है।

*

मनुष्य जीवन के तीन क्षेत्र हैं। इन तीनों क्षेत्रों में काम होता है। 1. कायिक—स्थूल कर्म, उत्पादन 2. वाचिक—साहित्यसृष्टि 3. मानसिक—सूक्ष्म चिंतन।

*

संन्यास का मतलब है कि देहरक्षण और लोकसंग्रह के लिए जिन कर्मों की आवश्यकता नहीं, वे कर्म छोड़ें, बाकी कर्म करें—लेकिन संकल्प छोड़कर वासना छोड़कर।

*

श्रद्धा कर्मशक्ति है। श्रद्धा से कृति होती है और कृति के बाद वह निष्ठा में परिणत हो जाती है।

*

इहलोक यानी सामाजिक कर्तव्य, परलोक यानी आत्मविषयक कर्तव्य ।

*

कल्याणकारी काम कभी व्यर्थ नहीं जाता। वहां बुद्धि थक जायेगी तो भगवान मदद करेगा। बीच में रुकना पड़ेगा, नया जन्म भी लेना पड़ेगा, लेकिन आपका कार्य आगे जारी रहेगा।

*

गीता कर्मयोग के लिए त्रिविध कार्य सूचित करती है—आत्मविशुद्धि, आत्मविजय और आत्मविकास अथवा आत्मविस्तार।

*

कर्मयोग रजोगुण नहीं, रजोगुण का नुस्खा है।

*

कर्मयोग बाह्य क्रिया पर निर्भर नहीं है। वह निरहंकारिता, निष्कामता, निर्वैरता इत्यादि अंतर्गुणों पर ही खड़ा है।

*

साधना की नहीं जाती, साधना होती है। कर्मयोग में भगवदार्पण भाव भर दिया जाये तो वही होती है साधना।

*

कर्मयोगी दिन में एक घंटा और साल में एक माह सेवाकार्य से अलग होकर रहे। ऐसी विशेष सूचना कर्मयोग की सिद्धि और शुद्धि के लिए मैं देता हूँ।

*

काम करते हैं तो समस्याएं खड़ी होती ही हैं। काम कैसे करें, आरंभ कैसा किया जाये, औजार-सामान कहा से लायें—यह सब सोचना पड़ता है। इसलिए लोग जिसे समस्या कहते हैं, वह समस्या नहीं, कर्मयोग का स्वरूप है।

*

काम आध्यात्मिक शक्ति से होता है, जो हवा में फैली रहती है। काम जमीन पर होता है, पर काम करता है आसमान। खेती होती है जमीन पर, लेकिन बारिश बरसती है आसमान से।

*

1. बाह्य सेवाकार्य 2. आंतरिक साधना 3. जीवन की तमाम स्थूल-सूक्ष्म क्रियाएं परमेश्वर को समर्पित करना—यह है राजविद्या।

*

कर्मशक्ति न होगी तो जीवन भाररूप होगा, ज्ञानशक्ति न होगी तो निरुपयोगी होगा और इच्छाशक्ति (विल पावर) न हो तो मनुष्य जीवित होने पर भी मृतप्राय होगा।

*

स्वांतःसुखाय जो किया जाता है, उसमें सच्ची तीव्रता और सच्ची छटपटाहट होती है। इसलिए वह विश्व की अंतरात्मा के साथ सहज ही जुड़ जाता है।

*

केवल निर्विकार जीना अर्थात् नाहक जीना स्वयमेव एक मूल्य है। यह जिसको सध गया, उसकी निष्क्रियता में भी प्रचंड शक्ति भरी रहेगी।

*

सहकार्य असुरों को मान्य नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि वे कभी सहकार्य नहीं करेंगे। स्वार्थ के लिए आवश्यक सहकार्य वे कर भी लेंगे, सहकार्य के लिए स्वार्थत्याग वे नहीं करेंगे।

*

जो चिंतन कर्म से छुटकारा पाने की अपेक्षा रखता है, वह मनुष्य को विकास के बदले विनाश की ओर ले जाता है।

*

अगर मनुष्य जीवनभर एक ही काम करता रहेगा तो उसका जीवन एकांगी बनेगा। सर्वांगीण जीवन-विकास के लिए अलग-अलग कर्मयोग की योजना करेंगे तो जीवन में आनंद आयेगा। और उसी के साथ ज्ञान भी प्राप्त होगा।

*

अनुभवियों ने कहा है कि स्थूल कर्मों में ज्यादा मत फंसो। स्थूल कर्म से मतलब है, जिसमें आडंबर करना पड़े आयोजन करना पड़े या जिसमें चिंता बढ़े, ऐसे कर्मों से मुक्त रहो।

*

मनुष्य का शरीर तो विकार का पुतला है। सब क्रियाएं छोड़ देंगे तो वहां जोरदार विकार चलेगा और फिर रातदिन युद्ध का प्रसंग आयेगा।

*

चित्त में अकर्म, संकल्पशून्यता, अहंमुक्ति हो तो बाहर प्रचंड कर्म होगा। अहंकार से मुक्ति प्राप्त कर सकें, तो थोड़ी-सी क्रिया में भी बहुत बड़ी निष्पत्ति हो सकती है।

*

ईश्वरकृपा रूपी अग्नि तो सब जगह पड़ी है। हम अपनी इच्छा से यदि उसके पास गये, तो उसकी गरमी मिलेगी। इसमें ईश्वरकृपा और स्वतः के कर्तृत्व, दोनों कामेल बैठता है।

*

जो स्थूल कार्य हैं, वे करने पड़ते ही हैं। उसकी ओर ध्यान भी देना पड़ता है। एकाग्रतापूर्वक करना पड़ता है, लेकिन समझना चाहिए कि वह मिथ्या है। मिथ्या दृष्टि आने पर मनुष्य आग्रही नहीं रहता।

*

कर्म साधनसापेक्ष है। उसमें अनेक प्रकार के साधनों की अनुकूलता चाहिए। ऐसी अनुकूलता दुर्लभ होती है। 'भाव' के लिए साधन की जरूरत नहीं। जो इच्छा करेगा, उसको साध्य होगा। परन्तु जन्म-जन्म के पुण्यों का संचय हुए बिना 'भाव' उत्पन्न नहीं होता।

*

कर्मयोग में काल-नियमन, कर्म नियमन और कल्पना नियमन जरूरी है।

*

भगवान की इच्छा से ही कार्य होते हैं, लेकिन हमारी कृति भगवान की इच्छा के लिए वाहन के समान है।

*

सात्त्विकता दो प्रकार की होती है—कर्तरि और कर्मणि । कर्तरि यानी अपनी जोर चलानेवाली। कर्मणि यानी प्रवाह में बहनेवाली। कर्तरि सात्त्विकता परमार्थोपयोगी है। कर्मणि सात्त्विकता 'संसार' को अच्छा करती है।

*

जीवन की शुद्धि, अंतर की स्फूर्ति, विराट में आत्मदर्शन, और आत्म में विराट की अनुभूति कर्मयोग के साथ-साथ हो सकती है। उसमें विकर्म जोड़ने पड़ते हैं।

*

बिना जिम्मेदारी का काम मनुष्य दिनभर क्यों न करे, कर्मयोगी की पदवी का पात्र नहीं हो सकता। आयी हुई जिम्मेवारी को टालने से मनुष्य का विकास नहीं होता।

*

जिम्मेवारी का कोई काम जब तक जवान लोग हाथ में लेते नहीं, तब तक चित्त उनके काबू में आना संभव नहीं।

*

धृति और उत्साह मिलकर कर्मयोग बनता है।

*

जहाँ किसी व्यक्ति पर सार्वजनिक जिम्मेवारी का काम सौंपना है, वहाँ जिस विश्वास की जरूरत है, वह परीक्षा करके रखनी चाहिए।

*

अपनी हर कृति परमेश्वर के साथ जुड़ जाये, इसका कम-से-कम मानी यह है कि किसी के साथ हमारी अनबन न हो और हरएक के लिए हमारे मन में प्यार हो।

*

सत्कर्म की त्रिविध कसौटी—सत्य, साधुत्व, सौंदर्य। वस्तुतः तीनों का समावेश सत्य में ही हो जाता है। सत्य से पृथक हुआ साधुत्व औपचारिक और सौंदर्य वंचक होगा।

*

ऋजुता का शारीरिक गुण के तौर पर अर्थ—तत्परता से काम करने के लिए तैयार रहना, हनुमान के समान सदा तत्पर। इशारा हुआ-न-हुआ कि काम के लिए त्वरित तैयारी हो।

*

गीता का सत्कर्म यानी—1. ईश्वरार्पण बुद्धि से किया गया कर्म 2. ईश्वर-पूजा का कर्म 3. ईश्वरानुसंधानपूर्वक कर्म 4. ईश्वर की आज्ञा समझकर किया गया कर्म 5. ईश्वरप्राप्ति के लिए कर्म।

*

ईश्वर आदिकर्ता यानी कर्ता का कर्ता है और गुरु का गुरु भी है। कर्तृत्व और ज्ञानदातृत्व जगत् की ये दोनों शक्तियाँ ईश्वर में इकट्ठा हो गयी हैं।

*

कीर्ति का एक अर्थ है—कृति से दूसरों के लिए आदर्श उपस्थित कर देना।

अकर्तृत्व के भेद—1. कर्मत्व 2. निमित्तत्व 3. साक्षित्व।

*

प्रत्येक कर्म का एक औचित्य होता है। औचित्य यानी कौन-सा कर्म किस समय करना, इसका खयाल रहे। तत्पूर्वक वह करने पर उसमें सौंदर्य निर्माण होता है, वह निखर उठता है।

*

स्वधा यानी स्वावलंबन, स्वाश्रयी वृत्ति, आत्मधारण-शक्ति। आत्मधारण-शक्ति दो प्रकार की बतायी गयी है—1. समाज पर भाररूप न होकर जीना 2. शरीर का पोषण शरीरश्रम से करना।

*

पुरुषार्थ यानी पराक्रम। वीर्य, जीवन में विद्यमान उत्साह।

*

सत्कार्य करने में यह एक भावना आड़े आया करती है कि 'दूसरे नहीं करते तो हम क्यों करें?' एक प्रकार से यह दूसरों के प्रति मत्सर कहा जायेगा।

*

गीता ने कहा है **योगः कर्मसु कौशलम्** । और यह भी कहा है **समत्वं योगमुच्यते।** समत्व यानी कर्म करने की कुशलता। जो कुछ भी हम करें, उसकी अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रिया न होने दें, यह कुशलता है।

*

ज्ञान की खोज ऊपर से नीचे आती है, तो कर्म की रचना नीचे से ऊपर जाती है।

*

ज्ञान, ध्यान, चिंतन कर्मशक्ति के मूलस्रोत हैं। जिसके ध्यान में यह बात आयी, वह मूलस्रोत से अलग होना कभी भी नहीं स्वीकारेगा।

*

कर्म में, चिंतन में, ध्यान में अपार शक्ति दाखिल होती है, जब वह पूर्ण निरहंकार होता है और जब वह ईश्वरार्पण होता है।

*

सर्वकालीन कर्तव्य दो हैं—1. ईश्वर-स्मरण करना। 2. असद्वृत्तियों से जूझते रहना। पहला भक्तिकार्य है। दूसरा योगकार्य है।

*

मनुष्य का कर्तव्य उसके आसपास होता है। लेकिन उसकी भावदृष्टि विश्वव्यापक होनी चाहिए। भगवान बुद्ध समस्त विश्व के लिए करुणा रखते थे। उनके चिंतन में सारे विश्व के कल्याण की बात भरी भी। लेकिन, उन्होंने सोचा तो बिल्कुल नजदीक, अपने आसपास ही की।

*

अकर्तव्य यानी करणीय को न करना और अकरणीय को करना। कर्तव्य का अर्थ है, करणीय करना और अकरणीय टालना।

*

कर्तव्यत्रयी—1. सत्यनिष्ठा 2. धर्माचरण का प्रयत्न 3. हरिस्मरणरूप स्वाध्याय।

*

ज्ञान मंत्र है, कर्म तंत्र है। उपासना दोनों को जोड़ देती है।

*

क्रियायुक्त ज्ञान कभी भुलाया नहीं जा सकता। क्रियाहीन सिर्फ 'थियरी' हो तो वह भुलायी जा सकती है।

*

अहिंसा का कार्य जीवनशुद्धि के द्वारा ही होनेवाला है। इसलिए उसमें तूफानी कार्यक्रम के लिए जगह नहीं, वह एक निरंतर जाग्रत, शांत तेज से भरी हुई ज्ञानमूलक निवृत्तिपरक कर्मयोग की निष्ठा है।

*

आसपास की सृष्टि की यथाशक्ति सेवा करना, मानव कर्तव्य है।

*

संसार हमारे भोग के लिए नहीं है। हम संसार की सेवा के लिए हैं।

*

कर्म करने में कोई खास बड़ा गुण नहीं। पर कर्म न करने में बड़ा दोष है। इस पर गीता ने इलाज बताया, 'निष्काम कर्म'। इससे 'न करने' का दोष टलकर, 'करने' का गुण बनकर दाखिल हो जाता है।

*

नैष्कर्म्य यानी कर्म के उस पार की अवस्था। सिद्ध पुरुष का सर्वकर्म-संन्यास। सर्वकर्म-संन्यास—ब्रह्मविद्या का शुद्ध विज्ञान (प्योर साइन्स)।

*

सर्वकर्म-फलत्याग—ब्रह्मविद्या का विनियुक्त विज्ञान (अप्लाइड साइन्स)।

*

तामस कर्ता परिणाम की उपेक्षा करनेवाला होता है अर्थात् वह परिणाम का विचार ही नहीं करता।

*

राजस कर्ता परिणाम-परायण होता है, उसी में मग्न रहता है।

*

सात्त्विक कर्ता परिणाम -निरपेक्ष होता है। वह परिणाम का विचार करता है, परन्तु निरपेक्ष है। उसका संकल्प आसक्ति और अहंकारमूलक नहीं होता। निःसंग, निरहंकार रहकर वह उत्साहपूर्वक धैर्य से काम चलाता है।

*

काम जड़ भी बन सकता है, चेतनमय भी बन सकता है। हम कर्मजड़ न बनें। हमारा कर्म थोड़ा हो, लेकिन शास्त्रीय हो, सुव्यवस्थित हो, ज्ञानमय हो, उपासनामय हो।

*

हाथ, वाणी और बुद्धि मनुष्य की विशेषताएं हैं। तीनों का काम अर्थात् उद्योग, जप और चिंतन हमारे अंदर एकत्र होंगे तब वेग के साथ हमारी सर्वांगीण प्रगति होगी।

*

भगवान ने मनुष्य के शरीर में भूख रखी है और साथ-साथ बुद्धि में विश्वव्यापक संवेदना। कर्म के निमित्त इन दोनों का संतोष हो सकता है।

*

कर्मयोग में जहाँ स्वच्छता का ख्याल रहा, वहीं उसकी योग्यता ध्यानयोग के बराबर होती है।

*

चिंतन क्रियात्मक चीज नहीं है। उसके लिए समय की जरूरत नहीं। वह हमेशा चलता है। चाहे काम करते हों या और कुछ, हर क्षण हो सकता है।

*

कर्मयोग के लिए जरूरी है, व्यवसायात्मक बुद्धि यानी निर्णय-शक्ति। जहाँ निर्णय नहीं, वहाँ कर्मयोग नहीं। चाहे गलत भी निर्णय हो, लेकिन निर्णय हो, तब काम होगा।

*

अखंड तत्त्व-संकीर्तन, सतत कर्मयोग, व्रत-निष्ठा, भक्ति और सबकी नम्रतापूर्वक वंदना। यह सब मिलकर ही ब्रह्मविद्या बनती है।

*

इस दुनिया में ईश्वर के सिवा दूसरी कोई हस्ती नहीं है। हम तो अपने संतोष के लिए काम करते हैं। बाकी परिणाम की दृष्टि से देखा जाये तो हमारी सारी क्रियाओं का परिणाम शून्य है। जब हम शून्य बनेंगे, तब हमारा काम पूर्ण होगा।

•

20. बाबा का कर्मयोग

अखंड कर्म से कार्यं न विद्यते तक

धर्म समाजसेवा, लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति

मेरा धर्म है समाजसेवा करना। मेरे जीवन का अंतिम लक्ष्य है ईश्वरप्राप्ति। घर छोड़ने के पूर्व खूब विचार करके तय किया कि मेरे जीवन का कार्य आध्यात्मिक साधन और उसके साथ-साथ जनसेवा है। संन्यास और सेवापरायण-जीवन की ओर मुड़ने की मेरी प्रेरणा दैवी थी। एक अंतःप्रेरणा हुई कि मुझे यह करना ही होगा। इस जीवन की ओर मैं स्वाभाविक ही आकर्षित हुआ। सेवा का जीवन स्वीकार करने में मुझे कोई तकलीफ नहीं हुई।

मैं पुण्य का अभिलाषी नहीं हूं, सेवा का अभिलाषी हूँ, केवल सेवा के लिए ही उत्सुक हूं और मेरी इच्छा है कि वह सेवा भी मेरे नाम पर जमा न हो। क्योंकि वह सहजप्राप्त सेवा है। वह आज की परिस्थिति और काल के अनुकूल है अर्थात् वह समय की मांग है और समय ही मुझसे वह करवा रहा है। उसका श्रेय मुझे नहीं मिलेगा। एक तिनका गंगा में गिरा और 1500 मील बहकर समुद्र में पहुंच गया, तो उस तिनके को तैरने का श्रेय नहीं मिलेगा क्योंकि वह प्रवाह के अनुकूल बहता गया। वैसे ही मैं जो कर रहा हूँ, वह प्रवाह के साथ है, इसलिए वह मेरे नाम पर नहीं चढ़ेगा।

मैंने लुई पाश्चर की एक तस्वीर देखी थी। उसके नीचे एक वाक्य लिखा था,—"तुम्हारा धर्म क्या है, यह मैं नहीं जानना चाहता। तुम्हारे ख्यालात क्या हैं, यह भी नहीं जानना चाहता। सिर्फ यही जानना चाहता हूं कि तुम्हारे दुःख क्या हैं। उन्हें दूर करने में मदद करना चाहता हूं।" मेरी वैसी ही कोशिश है।

गांधीजी के आश्रम में

ब्रह्म साक्षात्कार की जिज्ञासा से इक्कीस साल की उम्र में मैंने घर छोड़ दिया और काशी पहुंचा।

फिर वहाँ से 7 जून 1916 की सुबह मैं अहमदाबाद गांधीजी के आश्रम में पहुँचा। नहा-धोकर गांधीजी के पास गया। वे सब्जी काट रहे थे। मेरे लिए यह एक नया ही दृश्य था। सब्जी काटने का काम भी राष्ट्रनेता करते हैं, यह मैंने कभी सुना नहीं था। उनके प्रथम दर्शन में ही मुझे श्रम का पाठ मिला। बापू ने एक चाकू मेरे हाथ में भी दे दिया। मैंने तो उससे पहले कभी यह काम किया नहीं था। पर उस दिन पाठ मिला। मेरी यह प्रथम दीक्षा थी।

सन् 1917 की बात है। मैं आश्रम से एक साल की छुट्टी लेकर बाहर चला गया था। उसका एक कारण तो था स्वास्थ्य-सुधार और दूसरा अध्ययन। मुझे वेदांत और दर्शन का अध्ययन करना था। वहाँ नारायणशास्त्री मराठे के पास मुझे इसका उत्तम अवसर मिला।

दूसरा काम था स्वास्थ्य सुधारना। उसके लिए पहले मैंने 10-12 मील घूमना रखा था। बाद में छः से आठ सेर अनाज पीसना शुरू किया। फिर तीन-सौ सूर्य नमस्कार शुरू किये। इससे स्वास्थ्य सुधर गया। यह सब करते हुए सेवा की दृष्टि से दूसरे कुछ काम भी कर रहा था। गीता का एक निःशुल्क वर्ग चलाया। उसमें छः विद्यार्थियों को पूरी गीता अर्थ के साथ पढ़ायी। दूसरे एक वर्ग में चार विद्यार्थियों को ज्ञानेश्वरी के छः अध्याय पढ़ाये। दो विद्यार्थियों को नौ उपनिषद पढ़ाये।

वाई में विद्यार्थीमंडल नाम की एक संस्था स्थापित की। उसमें वाचनालय की सहायता के लिए पीसने का एक वर्ग रखा। उसमें पंद्रह विद्यार्थी और मैं खुद, सब पीसते थे। दो सेर पर एक पैसा लेकर हम पीसने का काम करते थे और पैसा वाचनालय को देते थे। यह क्लास दो महीने चली। वाचनालय में 400 पुस्तकें जमा हो गयीं।

इसी साल मैंने 400 मील का पैदल प्रवास किया। जब घूमता था, तब गीता पर प्रवचन करता था। एक गांव में अधिक-से-अधिक तीन दिन ठहरता था। रात को नौ बजे प्रवचन होता था। पहले दिन पंद्रह-बीस भाई-बहन प्रवचन सुनने आते थे। दूसरे दिन संख्या बढ़ जाती थी—सौ, दो-सौ तक लोग हो जाते थे।

ऐसी मस्ती में वह समय बीता। अपनी चर्चाओं में तथा आचरण के द्वारा सत्याग्रह-आश्रम का प्रचार करने की मैंने कोशिश की और आश्रम में वापस लौटने की मियाद मैंने बापू को दे रखी थी, ठीक उसी दिन मैं वापस आश्रम में पहुँच गया। **रचनात्मक कार्य**

सन् 1921 से 1951 तीस वर्ष, अपरिहार्य जेलयात्रा छोड़कर मेरा सारा समय और जीवन ही विधायक और रचनात्मक कार्य में बीता। उस समय भी मेरा ध्यान रचनात्मक कार्य के मूलभूत विचारों की तरफ अधिक था। शिक्षण, अध्ययन, अध्यापन, ध्यान, चिंतन, निरीक्षण इत्यादि कार्य मैं कर रहा था। जिसे राजनैतिक आंदोलन कहते हैं, उसमें मैंने ज्यादा भाग नहीं लिया। कर्तव्यबुद्धि से झंडा सत्याग्रह, व्यक्तिगत सत्याग्रह, सन् बयालीस का आंदोलन आदि जो अपरिहार्य था, वह किया। इन तीस वर्षों में जो जीवनयापन किया उसमें मेरी एकांतिक ध्याननिष्ठा थी। इसलिए उसे मैंने कभी छोड़ा नहीं। मैं बिलकुल स्थानीय बन गया था। लेकिन रचनात्मक काम करते हुए भी मेरे सामने एक ही कसौटी थी कि यह व्यापक आत्मदर्शन का अल्प प्रयत्न है। इसलिए मैंने यही प्रयत्न किया कि आसपास के लोगों में अच्छी भावना और उत्तम कार्यकर्ता पैदा हों।

मजदूर

मैं खुद अपने को मजदूर मानता हूँ। इसीलिए मैंने अपनी जवानी के 32 वर्ष जो 'बेस्ट ईयर्स' यानी सर्वोत्तम काल कहे जाते हैं, मजदूरी में बिताये। मैंने तरह-तरह के काम किये। जिन कामों को समाज हीन और दीन मानता है, जिनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं, यद्यपि आवश्यकता बहुत

है, ऐसे काम मैंने किये। जैसे भंगी का काम, बुनाई, बढ़ई का काम, खेती आदि। अगर गांधीजी होते तो मैं बाहर कभी नहीं आता और दुनिया मुझे किसी मजदूरी में मगन पाती। कर्म से मैं मजदूर हूँ, यद्यपि जन्म से 'ब्राह्मण' यानी ब्रह्मनिष्ठ और अपरिग्रही हूँ। ब्रह्मनिष्ठा तो मैं छोड़ नहीं सकता। इसलिए इन सारे कामों के पीछे व्यापक आत्मदर्शन की साधना की ही दृष्टि थी।

अपनी मजदूरी पर गुजारा करने का मेरा प्रयोग आश्रम में 1922-23 से ही चल रहा था। तब दोपहर के चार बजे तक काम होने के बाद हिसाब लगाया जाता था कि कितना काम हुआ, कितनी मजदूरी प्राप्त हुई। अगर यह हालत हो कि शाम को छः बजे तक (यानी 8 घंटों में) पूरी मजदूरी प्राप्त हो जायेगी तो शाम का भोजन बनाया जाता था, नहीं तो क्या करना? शाम को भोजन छोड़ देना है या ज्यादा काम करके पूरी मजदूरी प्राप्त करनी है? जवान लोग अक्सर पूरा भोजन चाहते थे तो ज्यादा काम करना पड़ता था। कभी जितनी मजदूरी कम होती, उतनी चीजें आहार से निकाल दी जातीं। अत्यंत उत्साह से सारा काम चल रहा था।

कताई-बुनाई

गांधीजी के पास आने के बाद मैंने जो अनेक प्रकार के काम किये, उनमें एक था बुनाई का काम। बापू की प्रेरणा से बुनाई सीखनेवाले सबसे पहले लोगों में मैं एक था। उन दिनों मैं निवार बुनने का काम करता था। दिनभर में 25 गज निवार बुनने से जीवन-निर्वाह हो सकेगा, ऐसा सोचकर जोरों से निवार बुनने का काम चलाया था। सतत परिश्रमै के बावजूद भी आठ घंटों में 25 गज निवार नहीं बुनी जा सकी। आखिर बहुत ज्यादा जोर लगाया। एक दिन रात को 9.30 बजे तक बुना, तब दस घंटों में 25 गज निवार बुनने की क्षमता हासिल हुई।

उन दिनों (1916) सारा सूत मिल का होता था। उसके बाद ध्यान में आया कि मिल के सूत से हिन्दुस्तान को कोई खास लाभ नहीं होगा। इसी से धीरे-धीरे चरखे की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। हम लोग बैठकर कातने लगे। फिर धुनने की प्रक्रिया शुरू हुई। उसके बाद तुनाई

का काम सूझा। इन सब में संशोधन शुरू किया। घंटों काता, घंटों बुना। कताई की हर प्रक्रिया की तरफ ध्यान दिया, प्रयोग किये। फिर हिसाब लगा कि कताई की मजदूरी क्या होनी चाहिए।

जब कताई की मजदूरी निर्धारित करने का प्रश्न उठा, उन दिनों मैंने रोज चार- चार गुंडियां कातने का महायज्ञ शुरू किया। चार गुंडियां पूरी करने में साढ़े आठ, नौ घंटे लग जाते थे। अलग-अलग तरीके से कातने का अभ्यास चलता था। कुछ समय तक—दो, ढाई घंटों तक खड़े होकर कातना, फिर कुछ समय बैठकर कातना, कुछ समय बायें हाथ से, कुछ समय दायें हाथ से, ऐसे कातने के चार प्रकार आजमाये थे। कताई में करीबन नौ घंटे लग जाते थे। कातते समय दो घंटे पढ़ाने का काम करता था। एक बार दिन भर का हिसाब देते समय मैंने 26 घंटों का हिसाब दिया था, क्योंकि कातते समय पढ़ाने के दो घंटे अतिरिक्त मिल गये।

चरखे पर नौ घंटे में चार गुंडी कातने के प्रयोग के बाद तकली पर वैसा प्रयोग करने का मेरा इरादा था। ऐसे प्रयोगों से ही खादी की कल्पना को तीव्र गति देना संभव था। पूरे एक साल तकली पर बायें हाथ की गति में नौ तार का अंतर रहा। इस अभ्यास का उद्देश्य यह था कि दोनों हाथ मिलाकर आठ घंटों में तकली पर पूरा काता जा सके। आगे चलकर दोपहर बारह बजे आश्रम में सामूहिक तकली कताई होने लगी। उसको मैंने उपासना माना था। उपासना व्यवहार और आत्मज्ञान के बीच खड़ी है। दोनों के बीच पुल का काम करती है। मैं प्रार्थना और तकली, दोनों को एक ही शब्द 'उपासना' देता हूँ। प्रार्थना वाड्मयी उपासना है और तकली कर्ममयी उपासना है।

ग्रामसेवा

सन् 1932 से दो-तीन साल तक हम लोग ग्राम सेवा के निमित्त गाँव-गाँव घूमे। नालवाड़ी में रहकर यह काम करते हुए ध्यान में आया कि आसपास के गांवों की सेवा के लिए—समग्र सेवा की दृष्टि से कुछ ठोस योजना बनानी होगी। इसी चिंतन में से 1934 में ग्रामसेवा-मंडल

की स्थापना हुई और पूरे वर्धा तहसील के लिए ग्रामसेवा की योजना बनायी गयी। कुछ गाँवों को चुनकर वहाँ अपनी कल्पना के अनुसार खादी, हरिजनसेवा आदि लोकसेवा के काम शुरू किये गये।

ग्रामसेवा के निमित्त से गांव-गांव घूमते समय गांवों की आवश्यकताओं का निरीक्षण होता रहा। इस निरीक्षण से भलीभांति ध्यान में आया कि गाँवों में कुष्ठरोग का भयानक प्रसार है। उस समय गांधीजी के विधायक कार्यक्रमों में कुष्ठरोगी-सेवा की परिगणना नहीं थी। फिर भी समग्र सेवा की कल्पना मेरी आंखों के सामने थी, तो इस सेवाक्षेत्र की उपेक्षा करना संभव नहीं था। 1936 में दत्तपुर का कुष्ठधाम शुरू हुआ। हमारे आश्रम के मनोहरजी दिवाण वहाँ जाकर बैठ गये। मैंने भी उन लोगों के साथ खेत में कुछ समय बुनाई आदि का काम किया।

जेल-जीवन

1923 से 1942 तक कई जेल-यात्राएं हुई। जिंदगी के पांच साल जेल में बिताये। वहाँ बहुत-से काम करने का मौका मिला। रसोई का काम किया, रस्सी बटने का काम किया, दरी बुनने का काम किया, आटा पीसने का काम किया और गिट्टी फोड़ने का काम किया। गिट्टी फोड़ने का काम आसान नहीं था, लेकिन मैंने वह काम भी किया है। 1923 में नागपुर झंडा सत्याग्रह के सिलसिले में पकड़ा गया था। उस समय मुझे अकोला जेल में भेजा गया था। वहाँ अपराधी लोगों के लिए जो धारा लगायी जाती थी, वही मुझ पर लगायी गयी और उस कारण जेल में मुझे पत्थर तोड़ने की सख्त मजदूरी का काम दिया गया था।

1932 में छह माह मैं धुलिया जेल में रहा। उस वक्त राजनैतिक कैदियों में केवल 'सी' क्लासवालों को काम दिया जाता था। मेरा 'बी' क्लास था। लेकिन मैंने 'बी' क्लास की सहूलियतों का स्वीकार नहीं किया और जेल में जाते ही जेलर से काम मांगा। जेलर कहने लगे कि आप तो पहले ही कमजोर हैं, आपको हम कैसे काम दे सकते हैं? मैंने कहा, मैं यहाँ खाना

खाता हूँ। बिना श्रम किये खाना मेरा धर्म नहीं है, इसलिए अगर काम न मिला तो कल से मुझे खाना छोड़ना पड़ेगा। जेलर बोले—ठीक है, लेकिन हम आपको काम नहीं देंगे, आप खुद ही काम खोज लें।

उस समय जेल की स्थिति ऐसी थी कि मैं उधर ध्यान न देता तो वहां कोई अनुशासन ही न रहता। लोग बगावत करने पर तुले थे, जिद पर अड़े थे। मैंने तय किया कि स्वराज्य के सिपाही को स्वराज्य के अनुशासन के तौर पर हर रोज कुछ श्रम का काम करना होगा। उस समय जेल का 'टास्क' रोज 35 पौंड आटा पीसने का था। मैंने जेल के अधिकारियों को कहा कि ये लोग इतना 'टास्क' नहीं करेंगे। आपने डंडा-बेड़ी पहनायी तो भी नहीं सुनेंगे, इसलिए आप 35 पौंड का आग्रह मत रखिए। पूरी जेल का आटा पीसने का ठेका हम ले लेते हैं और रसोई का जिम्मा भी हम उठा लेते हैं। जेल के अधिकारियों ने उस बात को स्वीकार किया। फिर मैंने सबको कहा कि जिनको सादी सजा हुई है उन्हें भी 21 पौंड पीसना होगा। पहले तो सब तैयार नहीं हुए। उन्हें लगा कि विनोबा को तो कुछ करना-धरना नहीं होगा, हम फंस जायेंगे। लेकिन मैं खुद पीसने लग गया, तो सब-के-सब उत्साह से उस काम में लग गये। छोटे-बड़े सभी अपना हिस्सा पूरा कर देते थे, बीमार और बूढ़ों का भी पूरा कर देते थे। पीसते समय ज्ञान-चर्चाएं चलती। फिर तो वह जेल नहीं रही, आश्रम ही बन गया। रसोई बनाना भी हमने अपने हाथ में लिया और उत्तम-से-उत्तम लोग उस काम में लग गये। दाल पक जाने पर घोंटी जाती थी। सभी को उस दाल की याद जीवन भर रह गयी। वह दाल इतनी सुन्दर बनती थी कि जेल के लोग कहते थे कि ऐसी दाल और कहीं नहीं मिलेगी।

पवनार

सन् 1938 की बात है। मेरा शरीर अत्यंत क्षीण हो गया था। बापू के पास फरियाद गयी। बापू ने कहा, वायु परिवर्तन के लिए कहीं जाओ। मैंने कहा, स्वास्थ्य- सुधार के लिए मैं पवनार

जाकर रहूँगा। सबकुछ छोड़कर, बिलकुल खाली मन से मैं पवनार पहुँचा। वहाँ दिनभर कोई खास काम नहीं रखा था। हॉल में घूमता था। मेरा मुख्य काम खेत में बैठकर पत्थर चुनकर इकट्ठा करने का था। फिर व्यायाम के लिए खेत में खोदने का काम शुरू किया। पहले दिन पांच मिनट खोदा। दूसरे दिन दो मिनट बढ़ाये। तीसरे दिन पाँच मिनट बढ़ाये। यों करते-करते दिनभर में दो घंटे खोदने लगा। खोदने की क्रिया भी वैज्ञानिक ढंग से करता था। लगातार एक घंटा खोद लेता था, लेकिन उसमें भी बीच-बीच में कुछ सैंकंड रुक जाता था। खोदने का काम मैंने वर्षों तक लगातार किया है और उससे मेरे शरीर को बहुत लाभ पहुंचा है। शरीरिक लाभ के अलावा जो लाभ उससे होता है, वह एक विशेष अनुभव है। अनंत आकाश, खुली हवा, रवि-किरणों का स्पर्श और सीधा खड़ा शरीर, यह चतुरंग योग ही है।

ग्राम-संपर्क

पवनार में जैसे-जैसे स्वास्थ्य सुधरता गया, वैसे-वैसे धीरे-धीरे गांव से संपर्क बढ़ाया। एक परिश्रमालय शुरू किया, जहाँ गाँव के लोग सूत-कताई के लिए आते थे। उसमें 14-15 साल से लेकर 18 साल तक के जवान 8 घंटा काम करके रोजी कमाते थे। कताई-बुनाई का काम करके वे रोज के तीन-चार आने कमा लेते थे। जबकि बाहर आम मजदूरों को दो-सवा दो आना मजदूरी मिलती थी। मैं यही सोचता था कि उनकी रोजी कैसे बढ़े। लड़के दायें हाथ से कातते थे। तीन माह तक बायें हाथ का प्रयोग चलाया। फिर दोनों हाथ अदल-बदलकर काम किया गया। सूत की गुंडी के तार की संख्या गिनने और मोटी-गुंडियों के अंक निकालने के द्वारा उनको गणित सिखाया। कुछ देर मौन रहकर काम करने की प्रेरणा दी । इससे काम बढ़ा, मजदूरी बढ़ी। फिर 8 घंटे के बजाय 7 घंटे काम करके एक घंटा दूसरी चर्चा में बीतने लगा। इसके बाद नदी में तैरने, खेलने, घूमने, गीता के श्लोक कंठस्थ करने तथा त्यौहार आदि की छुट्टियों के निमित्त तत्संबंधी ज्ञान देने का कार्यक्रम चला। इस तरह वे ज्यादा मजदूरी कमाने लगे और कई तरह का शिक्षण पाने लगे।

भंगी का काम

हरिजनों से एकरूप होने के लिए मैंने खास तौर से वर्षों तक तीन काम किये—1. भंगी का काम 2. चमड़े का काम 3. बुनाई का काम। सन् 1932 में जेल से छूटने के बाद मैं वर्धा के नजदीक नालवाड़ी नाम के गांव में जा बैठा। वहां 95 घर हरिजनों के थे और पांच दूसरे थे। वहाँ गांव का उद्योग हाथ में लेने के लिए मृत ढोरों को चीरने का काम सीखना जरूरी हो गया। हमने उस काम का प्रशिक्षण पाने के लिए दो ब्राह्मण लड़कों को भेजा। उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उन कठिनाइयों के बावजूद वे उसमें प्रवीण हो गये। फिर दोनों ने मिलकर नालवाड़ी में चर्मालय चलाया।

प्रारम्भ के दिनों में साबरमती आश्रम में भंगी रखे जाते थे। उन्हें कुछ पारिश्रमिक दिया जाता था। एक बार मुख्य भंगी बीमार पड़ा। उसका लड़का काम करने आया। बेचारा छोटा-सा बच्चा, मलमूत्र से भरी बाल्टी लेकर खेतों के गढ़े में डालने जा रहा था। उससे वह बाल्टी ढोयी नहीं जा रही थी। वह परेशान था, रो रहा था। मेरे छोटे भाई बालकोबा को उसे देखकर दया आयी और वह उसी समय लड़के की मदद में पहुंच गया। मैं भी उसके साथ जाने लगा। इस तरह आश्रम में भंगी का काम शुरू हो गया।

सन् 1946 में जेल से छूटने के बाद मैंने भंगी का काम करने का संकल्प ही कर लिया था। उन दिनों मैं पवनार में रहता था। वहां से तीन मील दूर सूरगांव में मैंने भंगी का काम करना शुरू किया। रोज सुबह कंधे पर फावड़ा लेकर निकलता। आने-जाने में डेढ़-दो घंटे लग जाते। वहां रास्ते पर का मैला उठाकर गड्ढे में डालने का काम तीन घंटा करके वापस आता था। सूर्यनारायण की एकाग्र उपासना के बल पर मैंने पौने दो साल वह काम किया। धीरे-धीरे गांव के लोग भी मेरे साथ भंगी का काम में आने लगे और उस काम की घृणा चली गयी।

पदयात्रा के दरम्यान इंदौर शहर में हमने 'स्वच्छ इंदौर' सप्ताह मनाया। उसमें मैंने पखाना-सफाई का काम करना तय किया। मैं गया तो वहां मैला, मूत्र, पानी, सब था। मेहतर

बहनें तो रोज हाथ से साफ करती होंगी, मैंने भी हाथ से साफ किया। ऊपर से बारिश हो रही थी। नीचे सारा मैला था। मेरे पांव बहुत गंदे हो गये। घर पर आकर लगा कि क्या पांव को आग पर तपाऊं? मेरे हाथ में दस्ताने रहते थे फिर भी वापस आने पर हाथ बार-बार धोते रहने की इच्छा होती रही।

गोसेवा

मैंने कई रचनात्मक काम उठाये और उन्हें अपनी शक्ति के मुताबिक करता भी रहा। लेकिन किसी भी काम में शुद्ध चित्त की इतनी अधिक आवश्यकता मालूम नहीं हुई, जितनी गोसेवा के काम में मालूम हुई। आश्रम के लिए दूध की आवश्यकता मानी गयी और उसके निमित्त गोरक्षण शुरू हुआ। तब से वह स्थूल कार्यक्रम आज तक चल रहा है और विकसित हो रहा है। परन्तु उसके पहले दूध पीना छोड़कर गाय की सेवा करने के विचार से मैंने जीवन में तीन दफा दूध छोड़ने का प्रयोग किया। एक दफा दो साल के लिए, दूसरी दफा तीन साल के लिए, तीसरी दफा दो साल के लिए, इस तरह सात साल प्रयोग किया। उसमें सफलता नहीं मिली। इसलिए मैंने दूध लेना शुरू कर दिया और उसके साथ गो-उपासना की बात पर सोचने लगा।

हमलोग सुरगांव में तेल का कोल्हू चलाते थे और उसका तेल गाँववालों को देते थे। उससे जितनी खली तैयार होती थी, उतनी गायें वहां रखने का निश्चय किया। इस तरह गोसेवा को हमने वहां कोल्हू के साथ जोड़ दिया।

निराश्रित पुनर्वसन

गांधीजी के जाने के बाद पंड़ित नेहरू की माँग पर मैंने थोड़े साथियों के साथ निराश्रितों को बसाने का काम किया। उन दिनों मैंने बहुत मेहनत की। काम कुछ हुआ भी। लेकिन मुझे

वह चीज नहीं मिली, जिसकी मैं तलाश में था। मुझे लगा था कि निराश्रितों और मेवों को बसाने के काम में अहिंसा की कुछ शक्ति प्रकट हो सकती है। परन्तु वह चीज मुझे वहाँ नहीं मिली। तब छः महीने के उस काम के अनुभव के बाद मैं वहां से निकल पड़ा और वापस पवनार आ गया।

कांचनमुक्ति

सन् 1949-50 का समय था। मेरे मन में धन के बारे में तिरस्कार ही उत्पन्न हो गया था। वैसे वह था पहले से ही और अपने जीवन में धन-मुक्ति का अमल मैं करता आया था, लेकिन सार्वजनिक संस्थाएं भी अपरिग्रही हों, पैसे का 'उन्मूलन' ही हो जाये और इस प्रयोग में देह समर्पित हो, ऐसा लगने लगा। तो मैंने जाहिर कर दिया कि आज समाज में विषमता और उत्पात का मुख्य कारण है, पैसा। पैसा हमारे सामाजिक जीवन को दूषित करता है। इसलिए जीवन में से पैसे का उच्छेद करना आवश्यक है। हम यहां स्वावलंबन के प्रयोग भी करनेवाले थे। संतों ने आध्यात्मिक साधना के लिए तो कांचन का निषेध किया ही है। आज व्यावहारिक जीवन को शुद्ध करने के लिए भी कांचन का निषेध जरूरी लगता है। अब हमारा कांचनमुक्ति का प्रयोग शुरू होगा। जनवरी 1950 में तय हुआ कि आश्रम में सब्जी पैसे से नहीं खरीदी जाएगी। उस समय मेरे पास कुछ शिक्षित जवान इकट्ठे हुए थे। सब मिलकर इस प्रयोग में जुट गये।

सब्जी की खेती शुरू हो गयी। कुएं से पानी लेना था। हम लोग ही उसे चलाते थे। हमारी प्रार्थना रहट चलाते हुए भी होती थी। गीताई का पाठ भी रहट चलाते- चलाते होता था। जितनी जमीन हमने प्रयोग के लिए ली थी, उतनी पर पूरा उत्पादन नहीं हो रहा था, इसलिए और थोड़ी जमीन ली। वहाँ पानी का प्रबंध नहीं था। एक दिन मैं उठा, कुदाल-फावड़ा लेकर उस खेत में जा पहुंचा और कुएं के लिए जमीन खोदना प्रारम्भ कर दिया। फिर तो सभी उसमें जुट गये। मैं अपने साथियों से बार- बार कहता था कि यदि यह काम ठीक-ठीक रूप धारण कर ले, तो हम

सबकी चित्तशुद्धि होगी और समाज को भी कुछ शुद्धि प्राप्त होगी। प्रचलित समाज व्यवस्था पर कुठाराघात के प्रयोग को अगर हम अच्छी तरह पूरा कर सके, तो निःसंदेह संसार का रूप पलटनेवाला है।

आश्रम में ऋषि-खेती की बात मैंने सुझायी थी। तब लोगों को उसमें उतना यकीन नहीं था। एक तो शंका भी थी कि बिना बैलों की मदद के हाथों के बल से खेती करने में बहुत ज्यादा मेहनत करनी पड़गी। दूसरी शंका थी उपज के बारे में। उपज अधिक नहीं हो सकेगी, कुल सौदा महंगा पड़ेगा। लेकिन मेरे कहने पर हमारे जवानों ने काम उठा लिया। दो साल के प्रयोग का परिणाम यह निकला कि बैल की खेती से डेढ़ गुना अधिक कमाई ऋषि-खेती ने की।

भूदान-ग्रामदान

कल्पना यह थी कि परंधाम का काम कुछ आकार ले ले तो उसके बाद मैं बाहर जाऊं। परन्तु इस बीच बिलकुल अनपेक्षित रूप से शिवरामपल्ली सम्मेलन के लिए हैदराबाद जाने की बात बन गयी। शिवरामपल्ली सम्मेलन में सब साथियों के दर्शन का सौभाग्य मिला। अत्यंत समाधान और अंतरानंद का अनुभव मुझे हुआ। इसके आगे मैंने सोचा कि तेलंगाना में, जहां कम्युनिस्ट लोगों ने काम किया है और कुछ ऊधम भी मचाया है, उस सारे इलाके में पैदल घूम लूं। यात्रा के तीसरे दिन (18 अप्रैल 1951) पोचमपल्ली गाँव में एक भाई ने भूमिहीन हरिजनों के लिए सौ एकड़ जमीन दान दी।

जब हमें प्रथम सौ एकड़ जमीन का दान मिला तो हम चिंता में पड़े कि क्या किया जाये? मैंने सोचा कि क्या मुझमें यह काम उठाने की शक्ति है? तो अंदर से आवाज आयी कि निकल पड़, किसी से सलाह-मशविरा मत कर। शास्त्रवचन है कि पुरुषार्थ अकेले को करना चाहिए— एकाकी पौरुषं कुर्यात्। जब कोई पराक्रमी संकल्प करना है तो अकेले निकल पड़ना चाहिए। उस घटना के दूसरे दिन जिस गांव में मैं गया था, वहां हाथ फैलाकर भूदान की मांग की। उस

समय श्रोताओं की बिलकुल ही तैयारी नहीं थी कि ऐसी कोई मांग की जानेवाली है। लेकिन वहां मुझे पचीस एकड़ जमीन मिल गयी। मैं सोचने लगा कि जब दो बिंदु निश्चित हो जाते हैं, तो रेखा बन जाती है, ऐसा युक्लिड ने सिखाया है। मुझे कल सौ एकड़ जमीन मिली और आज पचीस एकड़ मिली। इस तरह दो बिंदु हो गये और मेरी रेखा तैयार हो गयी।

एक साल अद्भुत यात्रा चली। मैं अकेला घूम रहा था। सारे भारत में हर रोज भूदान की एक सभा होती थी। जमीन की मांग होती थी और लोग जमीन देते थे। सालभर में एक लाख एकड़ जमीन प्राप्त हुई।

हमारी तेलंगाना यात्रा में लगभग 15 हजार एकड़ भूमि मिली। फिर पवनार से दिल्ली की यात्रा में मुझे लगभग 20 हजार एकड़ भूमि मिली। तेलंगाना यात्रा में प्रतिदिन 200 एकड़ मिलती थी तो दिल्ली-यात्रा में प्रतिदिन औसतन 300 एकड़ भूमि मिली। उसके बाद उत्तर प्रदेश की यात्रा में एक लाख एकड़ जमीन दान में मिली। तत्पश्चात् 14 सितंबर 1952 से 31 दिसम्बर 1954 तक बिहार की यात्रा हुई। वहां 23 लाख एकड़ भूमि प्राप्त हुई। भूदान-यज्ञ, संपत्तिदान-यज्ञ, श्रमदान-यज्ञ आदि कार्य चलते-चलते आखिर उसमें से जीवनदान निकल पड़ा।

बिहार का कार्यक्रम था, भूरि-दान अर्थात् प्रचुर दान का। पर भूरि-दान भूमिदान का कलश नहीं, उसका कलश है, ग्रामदान। अर्थात् जमीन की व्यक्तिगत मालिकी का अंत। उड़ीसा के कोरापुट जिले में 600 गांव ग्रामदान में मिले और सर्वोदय के शरीर पर मुट्ठीभर मांस चढ़ा।

पहले मैं कहता था कि थोड़ा भूदान दो। फिर छट्ठा हिस्सा मांगने लगा। उसके बाद कहने लगा कि गांव में कोई भी भूमिहीन न रहे, इसका ख्याल करो। फिर तो समझने लगा कि जमीन की मालिकी रखना ही गलत बात है। हवा-पानी-सूरज की रोशनी की तरह ही जमीन भी सबकी है। फिर ग्रामसवराज्य, शांतिसेना, सर्वोदय-पात्र वगैरह की बात कहता रहा।

भूदान में से ग्रामदान प्रकट हुआ। ग्रामस्वराज की दिशा का एक समग्र कार्यक्रम सामने आया। जैसे-जैसे आरोहण होता गया, वैसे-वैसे दर्शन व्यापक होता गया। नये-नये पर्व दृष्टिगोचर होते गये। अहिंसक समाज-रचना के विचार का खूब विकास हुआ। सर्वोदय का विचार एक मुकाम पर पहुंचा।

भूदान में हमें करुणा के समुद्र के दर्शन हुए। लाखों से अधिक लोगों ने 40 लाख एकड़ से अधिक जमीन का दान दिया।

बिहार में लाखों एकड़ जमीन, लाखों दाताओं और उसके साथ उड़ीसा के हजारों ग्रामदान लेकर हम तमिलनाडु पहुंचे। लाखों लोग दान दे सकते हैं, यह बिहार में सिद्ध हो गया और हजारों ग्रामदान हो सकते हैं, यह उड़ीसा में सिद्ध हो गया। अब एक तरह से मेरा काम समाप्त हो गया था। एक मनुष्य और कितना कर सकता है? जहाँ तक मेरा ताल्लुक है, मेरे काम की परिणति हो चुकी थी, ऐसा मैंने माना और इसीलिए भूदान-यज्ञ के साथ और भी अन्य कामों को जोड़ने का सोचा। ग्रामदान शुरू होने के बाद मुझे लगा कि अब और एक क्रांतिकारी कदम उठाना चाहिए। हिन्दुस्तान के 300 जिलों में से 250 जिलों में भूदान-समितियां काम कर रही थीं। उनके लिए गांधी-निधि से सहायता ली जाती थी, वह हमने बंद कर दी। सारी भूदान-समितियां तोड़ डाली। इस तरह निधिमुक्ति और साथ-साथ तंत्रमुक्ति भी हो गयी। यह सारा तंत्र क्यों तोड़ा ? संस्था का एक ढांचा होता है और यह एक शास्त्र है कि क्रांतियां कभी संस्थाओं के जरिये नहीं होती। क्रांतियां मांत्रिक होती हैं, तांत्रिक नहीं।

आगे केरल यात्रा में शांतिसेना की स्थापना हुई। हिसाब लगाया कि पांच हजार मनुष्यों की सेवा के लिए एक शांतिसैनिक चाहिए। शांतिसैनिक सामान्य समय में समाजसेवा, ग्रामदान-प्राप्ति का काम करेंगे और विशिष्ट मौके पर शांति-स्थापना के लिए अपना सिर समर्पित करने की तैयारी रखेंगे।

कर्नाटक की यात्रा में सर्वोदय-पात्र का विचार प्रथम बार प्रस्तुत हुआ। सर्वोदय-पात्र में सर्वोदय के नाम से एक मुट्ठी अनाज हर घर से मिलने की बात थी। वह अनाज छोटे बच्चे की मुट्ठी से डाला जाये। इससे सर्वोदय को सम्मति मिलेगी, बच्चों को शिक्षा मिलेगी, संस्कार मिलेगा। इसके अलावा, जिन घरों के लोग सर्वोदय-पात्र में मुट्ठीभर अनाज डालेंगे, उन घरों के लोग अशांति के कामों में मदद नहीं देंगे, इस तरह की प्रतिज्ञा उसमें थी।

कर्नाटक में हमने नये मंत्र का उद्घोष किया— 'जय जगत्'। पहले हम 'जय हिंद' बोलते थे, लेकिन 'जय जगत्' के पेट में 'जय हिंद' आ ही जाता है। एक बाजू 'वन वर्ल्ड' यानी जय जगत् और दूसरी बाजू गांव—जय ग्रामदान। तो हमारा मंत्र होगा जय जगत् और तंत्र होगा ग्रामस्वराज्य। सेवा के लिए छोटा क्षेत्र चाहिए, चिंतन के लिए व्यापकता चाहिए। व्यापक चिंतन, विशिष्ट सेवा।

मध्य प्रदेश के डकैतीग्रस्त क्षेत्र—चंबल के बीहड़ों में कुछ अप्रत्याशित घटा। जिन लोगों ने डकैती को अपना पेशा बना लिया था, ऐसे बीस आदमी हमारे पास आये और उन्होंने अपनी दूरबीन लगी हुई भारी कीमती बंदूकें नीचे रख दीं, आत्मसमर्पण किया। भिंड-मुरैना की इस यात्रा में मुझे अहिंसा का साक्षात्कार हो गया।

फिर इंदौर नगर को सर्वोदय नगर बनाने का कार्यक्रम दिया और वहां नगर में जगह-जगह सिनेमा के गंदे पोस्टर्स देखे। वे गंदे अशोभनीय पोस्टर्स देखकर मेरे दुःख की सीमा नहीं रही। ये पोस्टर्स यानी बच्चों के लिए विषयासक्ति की मुफ्त और लाजिमी तालीम-फ्री एंड कंप्लसरी एजुकेशन इन सेक्युआलिटी है। उसके खिलाफ मैंने जेहाद जाहिर किया—ये पोस्टर्स हटाने हैं।

आश्रम-स्थापना

इस प्रकार सतत तेरह साल भारत की पदयात्रा हुई। भारत के सब प्रदेशों में यात्रा हुई। ऐसी स्थिति में कुछ शाश्वत कार्य आगे चलता रहे, इस दृष्टि से छह आश्रमों की स्थापना हुई।

इन आश्रमों में (1) अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का निष्ठापूर्वक पालन हो (2) श्रमनिष्ठा हो (3) भगवान की भक्ति हो। भक्ति यानी रुटीन प्रार्थना जैसी चलती है, वैसी भक्ति नहीं। सर्वत्र प्रभु विराजमान है, उसका निरंतर भान हो, यह है भक्ति। (4) स्वाध्याय हो। 'स्व' के अध्ययन के लिए, आत्मस्वरूप की पहचान के लिए सत्पुरुषों की वाणी इत्यादि का अध्ययन। ये दो-चार चीजें हैं, जिनके बल से आश्रमों को स्थायी मूल्य प्राप्त हो सकता है। आश्रमों को मैंने 'लेबोरेटरी प्रयोग' कहा है। हमारी आश्रम योजना हमारे सामाजिक कार्य का पूरक अंग है। आश्रम और आरोहण (भूदान आंदोलन) एक ही कार्यक्रम की दो योजनाएं है। आश्रम है शुद्ध विज्ञान (प्योर साइंस) और आरोहण है व्यावहारिक विज्ञान (एप्लाइड साइंस)। हमारे आश्रम जहां जहां बने, वहां-वहां उन आश्रमों को 'पावर हाऊस' का काम करना होगा। वहां से 'पावर' आसपास फैले, ऐसी अपेक्षा है।

ये छह आश्रम हैं—1. बोधगया में समन्वय आश्रम (18 अप्रैल 1934) 2. पवनार में ब्रह्मविद्या-मंदिर (25 मार्च 1959) 3. पठानकोट में प्रस्थान आश्रम (अक्तूबर 1959) 4. इंदौर में विसर्जन आश्रम (अगस्त 1960) 5. लखीमपुर, असम में मैत्री आश्रम (मार्च 1962) 6. बेंगलोर में विश्वनीडम् (1959)।

पुनः पवनार

1963 में रायपुर में सर्वोदय सम्मेलन हुआ। वहाँ 1. ग्रामदान 2. शांतिसेवा और 3. ग्रामाभिमुख खादी का त्रिविध कार्यक्रम रखा गया। सम्मेलन के बाद रायपुर से वर्धा की दिशा ली। तेरह साल, तीन महीने और तीन दिन के बाद मैं पवनार पहुंचा। तेरह साल से घूम रहा था और मेरा घूमना जारी रहनेवाला था। पवनार में कुछ दिनों का निवास रहा। फिर दो महीना वर्धा जिले में घूमकर मैं पुनः पवनार आया और बीमार हो गया। पवनार में कुछ लंबे समय रुकने का तय हुआ। पवनार के इस निवास में पांच दिन का (12 से 17 फरवरी 1965) उपवास हुआ

(देश में भाषिक दंगों में हुई हिंसा के कारण)। उस समय मैंने 'त्रि-सूत्री' योजना पेश की और सभी ने वह मान्य की।

तूफान-यात्रा

1965 में सर्व-सेवा-संघ ने गोपुरी-वर्धा में अपना अधिवेशन बुलाया था। वहां बिहारवालों को मैंने कहा कि तुम बिहार में तूफान खड़ा कर सकते हो तो बाबा फिर से बिहार आने के लिए तैयार है। बिहारवालों ने यह बात मान्य कर ली और मैं तूफान-यात्रा के लिए बिहार की तरफ निकल पड़ा। अब बाबा बिहार में मोटर से जा रहा है। इतना फर्क पड़ गया है, स्वास्थ्य में। पांव स्थिर नहीं रहते। लगभग सत्तर हजार कि.मी. की यात्रा कर चुके। पहाड़ों में, पानी में, रेगिस्तान में, बारिश में, ठंड में, धूप में बहुत चले। तो अब ये पांव कहते हैं कि हमसे बहुत काम ले लिया, इससे ज्यादा काम हम क्या करें? इसलिए अब हम मोटर में जाते हैं।

बिहार में छह महीने में दस हजार ग्रामदान करने की कल्पना थी। वह नहीं हुआ। लेकिन एक साल के अंत में वह संकल्प भगवत्-कृपा से पूरा हुआ।

आचार्यकुल

बिहार में तूफान-यात्रा के दरम्यान पूसा रोड में विद्वत परिषद हुई। इस परिषद में मैंने कहा कि सारे देश का मार्गदर्शन आचार्यों के हाथ में होना चाहिए। शिक्षकों की एक स्वतंत्र सत्ता खड़ी हो। सभी शिक्षकों-आचार्यों का संगठन हो। आचार्य कलुषित राजनीति से मुक्ति लेकर संकीर्ण मतवादों से ऊपर उठकर विश्वव्यापक मानवीय राजनीति और जनशक्ति पर आधारित लोकनीति अपनायें। अशांति शमन का काम करें। इन्हीं विचारों के आधार पर बिहार के कहल गांव में आचार्यकुल की स्थापना हुई।

गोहत्याबंदी उपवास—कलकत्ता और केरल में जो गोहत्या हो रही थी, उससे मेरा हृदय व्यथित था। इसलिए मैंने तय किया कि 1 जनवरी (1979) से आंशिक उपवास शुरू करूंगा। फिर यह भी जाहिर किया कि 22 अप्रैल से पूर्ण उपवास करूंगा। (22 अप्रैल को उपवास शुरू हुआ)। प्रधानमंत्री से आश्वासन मिला कि सारे भारत में गोहत्याबंदी हो, इसके लिए वे पूरा प्रयत्न करेंगे। मेंने विश्वास रखा। परिणामस्वरूप अनशन पांच दिन (22 से 26 अप्रैल) में पूरा हुआ।

•

ज्ञानोपासना और वाङ्मय सेवा

*(1916 में विनोबाजी गांधीजी के साथ जुड़े। तब से रचनात्मक कार्य में वे सतत लगे रहे। उस क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये। साथ-साथ उनकी ज्ञानोपासना भी अखंड चलती रही, जिसके फलस्वरूप अनेक सारग्रंथ और मौलिक ग्रंथों की रचना हुई। इस प्रकार स्थूल कर्म के साथ वाङ्मय के क्षेत्र में भी उनका अनूठा योगदान रहा। उनकी उस वाङ्.मय सेवा की एक झलक – **संपादक।**)*

बचपन में मुझे दो आदतें थीं—घूमना और पढ़ना। जब भी समय मिला, घूमने चला जाता था। चार-चार, पांच-पांच घंटे घूमता रहता था।

दूसरी बात थी पढ़ना। वड़ोदरा की सेंट्रल लाइब्रेरी उस वक्त भारत की बड़ी लाइब्रेरियों में से एक मानी जाती थी। छुट्टी के दिनों में रोज दोपहर को खा-पीकर मैं लाइब्रेरी में जा बैठता। हजारों ग्रंथ पढ़े, पूरी लाइब्रेरी ही पार कर डाली ! रोज 30-30, 40-40 ग्रंथ देख जाता था। बड़े-बड़े ग्रंथ मैं दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह मिनिट में पूरे देख लेता था। मेरी बहुत सारी शिक्षा लगभग एक साल तक वड़ोदरा में हुई। उतनी अवधि में मैंने अक्षरशः हजारों किताबें पढ़ी। मराठी, संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी, फ्रेंच, इन छह भाषाओं से मेरा परिचय था। उत्तमोत्तम साहित्य पढ़ने में आया। उपनिषद ने स्वाध्याय-प्रवचन के संपुट में सार कर्तव्य बताये हैं—**सत्यं च स्वाध्याय-प्रवचने च, शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च, मानुषं च स्वाध्याय-प्रवचने च।** यानी हरएक कर्तव्य के साथ स्वाध्याय-प्रवचन होना चाहिए। मैंने ऐसा ही व्यवहार किया। भूदान-ग्रामदान आदि जितने भी काम किये, उन सबके साथ अध्ययन-अध्यापन का कर्तव्य कभी दूर नहीं हुआ।

यदि मुझसे पूछा जाये कि 'आपका कौन-सा धंधा है?' तो मैं यही कहूंगा कि 'मेरा धंधा शिक्षक का है।' तेरह साल तक मेरी पदयात्रा चली। उसमें अगर मैंने कोई काम किया तो

शिक्षक और विद्यार्थी का ही। जो शिक्षक होता है वही विद्यार्थी भी होता है। शिक्षक और विद्यार्थी दोनों एक ही हैं। मैंने भी जीवनभर अध्ययन-अध्यापन का ही काम किया है। ऐसा एक भी दिन नहीं गया, जब मैंने कोई नया ज्ञान हासिल न किया हो और पुराने का चिंतन न किया हो। चिंतन का समय न मिलने पर मेरा चित्त बिना जल के मछली की तरह तड़पता है।

फिर चित्त में यह उत्सुकता रहती है कि जो लोकहितकारी ज्ञानसंग्रह किया है, उसे लोगों को देकर ही मरें। हमने ज्ञान समझकर जिसका संग्रह किया है, समाज को देकर ही छूटें। भक्तिमार्ग में भागवत, तुलसी रामायण, तुकाराम गाथा, ज्ञानेश्वरी आदि ग्रंथ बहुत उच्च कोटि के ग्रंथ हैं। मुझ पर उनका बहुत असर है। इन ग्रंथों को पचाकर नया दूध तैयार कर समाज को देना चाहिए। ऐसा न करें तो क्या होगा ? भक्ति के साथ बहुत सारी ऐसी बातें आ जायेंगी, जो हमें पचने लायक नहीं होगी, न भाने लायक होंगी। इसलिए उसका दूध बनाना ही पड़ेगा।

'महाराष्ट्र धर्म' साप्ताहिक में तुकाराम का एक-एक अभंग किंचित् विवरण के साथ दिया गया है। उसकी एक पुस्तक बनी—**संताचा प्रसाद।** बाद में तुकाराम के भजनों का मेरा किया हुआ चयन भी प्रकाशित हुआ—**तुकारामांची भजने।** वैसे ही **एकनाथांची भजने, नामदेवांची भजने, रामदासांची भजने, ज्ञानदेवांची भजने** के संकलन भी पुस्तक रूप में प्रकाशित किये गये। महाराष्ट्र के कवि मोरोपंत की केकाविल का चयन केकावलक नाम से प्रकाशित हुआ।

सन् 1923 में 'महाराष्ट्र धर्म' मासिक पत्रिका में 'उपनिषदों का अध्ययन' शीर्षक से चार लेख मैंने लिखे थे। उसी की आगे पुस्तक बनी। वह मेरा प्रथम लेखन है। अत्यंत जटिल ग्रंथ है, फिर भी गहरा है।

मेरी मौलिक किताबें सारी मराठी में लिखी हुई हैं। क्योंकि यद्यपि मैं हिंदी, उर्दू आदि जानता हूं, फिर भी मराठी पर मेरा जो काबू है, वैसा दूसरी भाषाओं पर नहीं।

अपने विचारों को कविता में बिठाने का मुझे शौक था। घर में था तब मैं रचना करता था। एक-एक कविता बनाने में दो-दो, तीन-तीन घंटे, कभी-कभी तो दिन भर लग जाते। फिर उसको गाता, कुछ कमी महसूस हुई तो ठीक कर लेता और जब पूरा समाधान हो जाता कि कविता अच्छी बन गयी, तब उसको अग्निनारायण में स्वाहा कर देता। काशी जाने के बाद गंगा के किनारे बैठकर इसी प्रकार कविता बनाता और समाधान हो जाने के बाद गंगा में विसर्जित कर देता। इस प्रकार, मैंने अपनी समाधानकारक कविताएं भक्तिपूर्वक अग्निनारायण और गंगामैया को अर्पित की हैं। मैं नहीं मानता कि उससे मेरा या दुनिया का कोई नुकसान हुआ है। मैं तो मानता हूं कि गीताई उस अग्निनारायण और गंगा माई का प्रसाद है। गीता संस्कृत में होने के कारण उसका चिंतन-मनन निदिध्यासन करना हमारी जनता के लिए संभव नहीं होता, इसलिए गीता को मराठी में लाने की बहुत समय से इच्छा थी। उसके लिए आवश्यक मानसिक योग और अन्य अनुकूलता 1930 में मिल सकी। 7 अक्टूबर 1930 को गीताई का लेखन प्रारम्भ किया और इसकी समाप्ति 6 फरवरी 1931 को हुई। और उसका पहला संस्करण मेरे धुलिया जेल में (1932) रहते प्रकाशित हुआ।

उसी समय उसी जेल में गीता-प्रवचन का जन्म हुआ। साने गुरुजी के मंगल हाथों वह लिपिबद्ध हुआ। ईश्वर की योजना के अनुसार अब गीता-प्रवचन सारे भारत में अनेक भाषाओं में अनूदित होकर जनता की सेवा कर रही है। मेरा विश्वास है कि मेरे द्वारा हुई अन्य सेवा दुनिया भूल जायेगी, लेकिन गीताई तथा गीता-प्रवचन को नहीं भूलेगी और मेरी यह कृति दुनिया की सेवा करती रहेगी। क्योंकि गीताई लिखते समय और गीता प्रवचन करते समय मैं केवल समाधिस्थ था।

गीता-प्रवचन ने कुल गीता-सार सरल भाषा में लोगों की पहुंच में ला दिया। परन्तु श्लोकशः अर्थ करने के लिए और मदद की जरूरत बनी रही। तदर्थ, मेरा छोटा भाई शिवाजी और मैं, दोनों ने मिलकर गीताई-शब्दार्थ-कोश की रचना की। फिर यह कल्पना उद्भूत हुई कि श्लोक का विवरण उसी श्लोक के नीचे देना ठीक रहेगा। और वैसी योजना गीताई-चिंतनिका में की।

गीता का साम्ययोगपरक विवरण गीता-प्रवचन में लौकिक शैली में प्रस्तुत किया गया है। बहुत दिनों से मैं सोचता था कि उसे संस्कृत सूत्रों के रूप में गूंथा जा सके तो गूंथूं। उड़ीसा की भूदान-यात्रा में कोरापुट जिले के घने जंगलों में इन सूत्रों को गूंथने की वृत्ति हुई और 108 साम्यसूत्रों की रचना हुई। (बाद में साम्यसूत्र-वृत्ति के नाम से और 432 संस्कृत सूत्र उसमें जोड़े गये—संपादक)

गांधीजी ने आज्ञा दी और उसके मुताबिक मैंने एक छोटी-सी टिप्पणी ईशावास्य उपनिषद पर लिखी। बाद में 10-12 साल के बाद दो महीने उसी विषय का चिंतन करके एक छोटा-सा भाष्य, जिसको ईशावास्य-वृत्ति नाम दिया, लिखकर पूरा किया।

सन् 1944 में सिवनी जेल में कुछ लोगों के सामने स्थितप्रज्ञ-लक्षण पर व्याख्यान दिये। तीस वर्षों के निदिध्यासन से जो अर्थ सिद्ध हुआ, उसका विवरण उसमें है।

स्वराज्यशास्त्र संबंधी छोटी-सी टिप्पणी की कल्पना नागपुर जेल में की गयी थी। उसी में कुछ सुधार करके स्वराज्यशास्त्र पाठकों के सामने रखा गया।

रामनाम संबंधी गांधीजी के विचारों का संग्रह मेरे हाथ लगा। उन विचारों को पचाने के लिए मैंने जो चिंतन किया, वह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ—‘**रामनामः एक चिंतन**’ के नाम से।

एकादश व्रतों पर अभंग व्रत नाम से पद्यमय रचना का भी सृजन हुआ।

भाषा अध्ययन

भाषाओं के लिए मेरे हृदय में अत्यंत प्रेम है। कोशिश करके मैंने अनेक भाषाओं का अध्ययन किया है। हिन्दुस्तान के संविधान में 15 भाषाओं के नाम मौजूद हैं। उन सब भाषाओं का अध्ययन बाबा ने किया है। मराठी भाषा का मैंने बारीकी से अध्ययन किया और उसी प्रवाह में आत्मा के समाधान के लिए संस्कृत का अध्ययन किया। मुख्यतया जनता के हृदय से संपर्क साधने के लिए हिन्दुस्तान की सभी भाषाओं का अध्ययन हुआ। भूदान यात्रा के समय लोकहृदय-प्रवेश के निमित्त उस-उस प्रांत में उस-उस भाषा के आध्यात्मिक साहित्य का अध्ययन पूरा किया और असम से लेकर केरल तक सभी भाषाओं के आध्यात्मिक साहित्य का काफी हिस्सा कंठस्थ किया। इसके अलावा, प्राचीन अरबी, फारसी, अर्धमागधी, पाली भाषाओं का भी अध्ययन हुआ। अरबी भाषा का तो बाबा पंडित ही कहा जायेगा। फिर हमने चीनी और जापानी भाषाओं के अध्ययन की थोड़ी कोशिश की, तात्पर्य यह है कि मैंने भाषाओं के लिए काफी परिश्रम किया है और मुझे भाषाओं के लिए बड़ा आदर है। इंग्लिश तो मैंने सीखी ही है, थोड़ी फ्रेंच भी सीखी है। उसके बाद हमारी पदयात्रा में एक जर्मन लड़की आयी, तो उससे जर्मन भी सीख ली। उसके बाद लैटिन का भी थोड़ा अभ्यास किया। यूगोस्लाविया से एक भाई आये थे, उनसे मैंने 'एस्पिरेन्टो' भी सीख ली।

नागरी लिपि

पहले भारत में ब्राह्मी लिपि चलती थी। बाद में नागरी लिपि आयी। उसके बाद अलग-अलग भाषाएं बनीं, तो अलग-अलग लिपियां आयीं। आज भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लोग, लिपि-भेद के कारण अलग हुए हैं। जैसे हिन्दी एक स्नेहतंतु है, जो सारे भारत को बांध सकती है, वैसे ही और उतने ही महत्त्व का दूसरा स्नेहतंतु है, नागरी लिपि। हिन्दुस्तान को जोड़ने का काम

एक लिपि कर सकती है। अगर भारत की सभी भाषाएं अपनी-अपनी लिपि के साथ नागरी लिपि को भी अपनायें तो यह बात बन पायेगी। हिन्दुस्तान की एकता के लिए हिन्दी भाषा जितना काम देगी, उससे बहुत ज्यादा काम देवनागरी लिपि देगी। इसलिए मैं चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान की समस्त भाषाएं देवनागरी में भी लिखी जायें। मैं 'ही' वादी नहीं, 'भी' वादी हूँ। यह नहीं कि नागरी लिपि ही चले, पर नागरी भी चले।

जेल में रहते समय जीवनोपयोगी अनेक विषयों के बारे में चिंतन करने का मौका मिला। उस प्रवाह में हिन्दुस्तान की अनेक भाषाएं और करीब-करीब सभी लिपियों का अध्ययन हुआ। उसी समय लिपि सुधार की तरफ भी ध्यान गया और चिंतन करके मैं निश्चित निर्णयों पर पहुँचा। सुधार क्या हो, यह निश्चित होने पर, मेरे स्वभाव के अनुसार मैंने उस पर अमल करना शुरू कर दिया। पत्र-व्यवहार में लोकनागरी का प्रचार सुलभता से होने लगा। मराठी हरिजन में लोगों ने उदारता से उसे सहन किया। अनेकों ने सहमति व्यक्त की। ('सेवक' नामक मराठी मासिक भी कई साल लोकनागरी लिपि में ही निकलता था। उसके लिए विनोबाजी ने खास टाइप भी बनवा लिया था। लोकनागरी का टाइपराइटर भी बनाया था—संपादक)

(भूदानपूर्व काल में यह सारा काम हुआ। 1951 में विनोबाजी की भूदान यात्रा शुरू हुई। यात्रा के बाई प्रोडक्ट के रूप में विनोबाजी का विविध धर्मों के मुख्य-मुख्य ग्रंथों के सार-संकलन का काम होता रहा, जो निम्न कई ग्रंथों के प्रकाशन का निमित्त बना—संपादक)

विविध धर्मों और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों की उपासना समय-समय पर मेरे मन में चलती रही। 1951 में उत्तर प्रदेश की हमारी यात्रा में प्रभु के नामों का कुछ चिंतन चला और उसके तीन श्लोक बन गये। भक्तजनों को जो नाम प्रिय हो गये थे, उनमें से कुछ नाम चुन लिये और छत्तीस नामों की एक नाममाला बन गयी। इस नाममाला द्वारा नामस्मरण का एक सुश्लिष्ट

भजन बना। उसमें सभी धर्मों के भगवद् नाम का समावेश हुआ है और हिन्दूधर्म के बहुत सारे पंथों का निर्देश भी आ गया है।

वेदों का मेरा अध्ययन 1918 से 1969 तक चला। पचास साल के अध्ययन के परिणामस्वरूप मैंने ऋग्वेद के 1319 मंत्र चुन लिए, जिनकी ऋग्वेद-सार पुस्तक बनी। केरल की भूदान-यात्रा में कालड़ी ग्राम में, जो शंकराचार्य का जन्मस्थान है, गुरुबोध (शंकराचार्य के पद्य-स्तोत्र आदि का चयन) का प्रकाशन (1957) हुआ। मैंने मनु-स्मृति का भी चयन किया और **मनुषासनम्** नाम से ग्रंथ प्रकाशित हुआ।

मेरी जिंदगी के कुल काम दिलों को जोड़ने के एकमात्र उद्देश्य से प्रेरित हैं। मेरी '**कुरान-सार**' पुस्तक उसी दिशा में एक छोटा-सा प्रयत्न है। इसी उद्देश्य से धम्मपद की पुनर्रचना करके **धम्मपद नवसंहिता** पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया। **ख्रिस्तधर्म**-सार के प्रकाशन के पीछे भी यही प्रेरणा काम कर रही थी।

उड़ीसा की पदयात्रा में जगन्नथदास रचित उड़िया भागवत का अध्ययन करने का अवसर मिला। उस अध्ययन में से **भागवतधर्म-सार** हाथ में आया।

हमारी कश्मीर-यात्रा के आरंभ में कुछ दिन **जपुजी** का सामूहिक अध्ययन किया जाता था। उस समय जपुजी पर जो व्याख्यान मैंने दिये, उनका संग्रह करनेवाली पुस्तक **जपुजी** प्रकाशित की गयी।

असमिया आध्यात्मिक साहित्य में नामघोष ने मुझे विशेष आकर्षित किया। उसका संक्षेप **नामघोष-सार** बनाया।

मध्यप्रदेश की हमारी यात्रा में तुलसीदासजी की विनयपत्रिका भेंट में मिली। कई महीने मैं उस प्रेम-सुधा-सागर में निमग्न रहा। उसका संक्षिप्त संस्करण **विनयांजलि** नाम से प्रकाशित हुआ।

अठारह प्रमुख उपनिषदों का चयन **अष्टादशी** नाम से प्रकाशित हुआ।

इस प्रकार, मैं जो लिखता हूँ, वह मेरा नहीं है। मैं तो अपने स्वामी का मजदूर हूँ। बड़ों के पास से वह मुझे मिला है और उसे मैं वितरित करता हूँ। मुझे जो ऐसा विचार धन प्राप्त हुआ है, उसे मैं थोड़ा बहुत बांट रहा हूँ। ज्ञान पर मेरा अनन्य विश्वास है। ज्ञान की एक चिनगारी की दाहक शक्ति के सामने विश्व की समस्त अड़चनें भस्मसात होनी ही चाहिए, इस विश्वास के आधार पर निरंतर चिंतनपूर्वक ज्ञानोपासना करने और प्राप्त ज्ञान का प्रसार करने में मेरा आजतक का जीवन काम आ रहा है। यदि दो-चार जीवनों को भी उसका स्पर्श हो जाये, तो उतने से मेरा ध्येय साकार हो सकेगा।

•

अंत में राम-हरि

सूक्ष्म कर्मयोग

1916 में मैं घर छोड़कर निकला। 1966 में उसे पचास साल पूरे हुए। पचास साल स्थूलरूपेण जो यथाशक्ति, यथामति सेवा हो सकती थी, वह भगवान को समर्पित हो गयी है। अब बाबा सूक्ष्म में प्रवेश करना चाहता है। अब ऐसी प्रेरणा मिली है कि स्थूल क्रिया जितनी कम हो सके, कम की जाये और जिसको मैंने 'सूक्ष्म कर्मयोग' नाम दिया है, उसमें प्रवेश करें। मेरा अपना विश्वास है कि सूक्ष्मरूपेण बहुत काम किया जा सकता है। जो अपनी वासनाएं निःशेष करके परमात्मा में और परमात्मा की सृष्टि में लीन हो गये, वे सूक्ष्मरूपेण बहुत मदद करते हैं।

त्याचें कर्तव्य संपले

मैं अपने मन में यह मानकर चल रहा हूं कि अपनी मृत्यु के पूर्व मुझे मरना है। जो कुछ करना था, वह सब कुछ हो गया, ऐसा मुझे आभास है। मुझे अब करने को कुछ नहीं रहा, इसलिए मैंने अपनी किताब पर लिख रखा है—**त्याचें कर्तव्य संपले (तस्य कार्य न विद्यते)**, उसका कर्तव्य समाप्त हुआ। इस वास्ते प्रारब्धक्षय की राह देखते-देखते मेरी दिनभर यही कोशिश होती है कि केवल 'रामहरि' का निरंतर स्मरण करता रहूं। यह क्रिया जब तक श्वास रहेगी, प्राण रहेगा, तब तक जारी रहेगी। उसका उच्चारण हो, यह जरूरी नहीं। भान भी हो तो काम पूरा हो जायेगा।

समाप्तम्। जय जगत्। सबको प्रणाम

राम-हरि

साधक, भूतदया के कारण, कर्मयोग में प्रवृत्त होता है। उसकी सारी प्रवृत्ति, भूतदया की प्रेरणा से चलती रहती है। जैसे-जैसे उसकी भूतदया व्यापक और गहरी होती जाती है, वैसे-वैसे दूसरे जीवों का और उसका अंतर कम होता जाता है। अंत में, 'सारे जीव और मैं एक ही हैं, सबका सुख ही मेरा सुख', ऐसी अनुभूति करके वह मानो भूतमात्र का प्राण ही बन जाता है। ऐसी अनुभूति के बाद, सहज ही स्थूल क्रिया लुप्त हो जाती है, और कुछ न करते हुए भी सबकुछ कराने की शक्ति हाथ में आ जाती है। इसे ही अकर्म में कर्म कहते हैं।

यह बीजरूप सिद्धि निवृत्तिनाथ को सध गयी है, इसलिए सोकर ही उनके सारे काम होते हैं। दूसरे जीवों से जिसका भिन्नत्व बाकी ही नहीं रहा, वह भूतदया की प्रवृत्ति भी क्या करेगा? वह तो भूतदया-रूप ही हो गया। फिर पृथ्वी का बिछावन, आकाश का ओढ़न, और भूतमात्र के सुखसाम्य की कल्पनारूप निद्रा लेना ही उसका कर्मयोग हो गया। भूतमात्र के निज स्वरूप में वह सो गया। इसलिए विषमता की सारी कलाएं सहज ही लुप्त हो गयीं। गुरु-शिष्य-भेद का भी अस्त हुआ। अर्थात् ज्ञान का लेन-देन भी रुक गया और केवल आनंद ही शेष रहा।

अब हमेशा की भांति भूतदया को क्रिया का आलंबन नहीं चाहिए। ज्ञान को शब्द का आलंबन नहीं चाहिए। नीचे दीवट और ऊपर दिया, इसकी आवश्यकता ही नहीं रही। नीचे दिया और ऊपर भी दिया ! आलंबन रहित दिया-ही-दिया ! कल्पना कर सकें तो कर लीजिए।

•